प्रेमचन्द के नारी-पात्र

प्रेमचन्द के नारी-पात्र

ओम् अवस्थी



नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली

प्रकाशक
नेशनल पब्लिशिंग हाउस
२६ ए, चन्द्रलोक, जवाहरनगर दिल्ली
विक्री-केन्द्र : नई सड़क दिल्ली

प्रथम संस्करण
सितम्बर, १९६२

मूल्य
पाँच रुपये

आवरण
हरिपाल त्यागी

मुद्रक
शोभा प्रिंटर्स
१ ८८१ ईस्ट पार्क रोड
नई दिल्ली

भारत को

जिसे मैं दे ही क्या सकता हूं।

—ओम्

आमुख

विद्यार्थी जीवन की समझ के प्रारम्भ से ही मुझे प्रेमचन्द-साहित्य के प्रति उत्तरोत्तर वर्धमती जिज्ञासा रही है। कारण सम्भवतः यही था कि मैंने उनकी कृतियों में उर्दू-द्वार से प्रवेश किया था और बटवारे के उपरान्त अपनी वंश परम्परा के प्रतिकूल जब हिन्दी-साहित्य से मेरा लगाव गहरा होने लगा तब मेरे मन में सर्वप्रथम यही इच्छा जागी कि देखें उर्दू में लिखने वाले प्रेमचन्द हिन्दी-लेखक के रूप में कहाँ तक सफल हो पाये थे। आज मैं भली प्रकार से समझता हूँ कि अध्ययन की ऐसी तुलनात्मक यद्यपि तटस्थ प्रवृत्ति बचकानी ही तो थी किन्तु इसमें संदेह नहीं कि उसी का सम्बल मैंने लिया है जिसके परिणामस्वरूप दिल्ली विश्वविद्यालय की एम. ए. परीक्षा के हेतु अपने शोधप्रबंध-विषय 'प्रेमचन्द के नारी-पात्र' ही को स्वीकृत करा सका। प्रस्तुत पुस्तक उसी का संशोधित रूप है।

प्रेमचन्द पर समग्रतः निर्णयात्मक आलोचनाएँ बहुत कम हुई हैं और इसी से उनके महत्वांकन के विषय में अपार मत-वैभिन्य मिलता है जिस पर उनके नारी-पात्रों पर किसी सम्यक् सविस्तर विवेचन का अभाव स्वाभाविक ही है। मुझे तो ऐसा प्रतीत होता है कि सामाजिक जीवन में भारतीय नारी ने अपने क्षेत्र तथा अपने प्रति संकुचित दृष्टिकोण को लेकर पिछले संक्रान्ति-युग में जिस प्रकार विकास-यात्रा की है उसके अनुरूप ही प्रेमचन्द की नारी-भावना एवं नारी-चित्रण को लेकर हिन्दी-आलोचना का रुख भी अस्पष्ट लचीला रहा है। प्रेमचन्द-साहित्य में अनुस्यूत नारी-भावना निर्विकल्प रही है नारी भाव और नारी-चित्रण भी वही रहे हैं किन्तु इस सम्बंध में एक ही समीक्षक की मान्यताएँ एक नहीं रह सकी हैं। कल जिस लेखनी ने प्रेमचन्द को नारी चित्रण में अकुशल माना था वही आज उस चित्रण की अपेक्षा भी अनुभव करती है। ऐसा क्यों है? अपरिपक्व मान्यताओं के कारण या व्यक्तिवादी मार्क्सवादिक मनोविश्लेषकों की प्रतिक्रिया स्वरूप? जो भी हो निर्णय की दिशा में यह कदम स्वागत होकर भी कोई निश्चित इंगित तो नहीं दे पाता।

क्यों न आलोचना तब आरम्भ से ही गहरी हो सकती जितनी हुई अथवा पूर्वाग्रहों से युक्त नहीं।

ऐसे में आलोचकों की भरमार से मैं बहुधा कतरा कर ही चला हूँ। यही विश्वास मुझे पर्याप्त है कि मैंने प्रेमचन्द-साहित्य का आद्योपान्त कई बार अध्ययन किया है और किसी भावना की परिपुष्टि अथवा स्पष्टीकरण के लिए वहीं के उद्धरणों को यथासम्भव महत्त्व देकर चला हूँ। इससे एक तो मैं प्रेमचन्द के प्रति स्पष्ट रह सका हूँ दूसरे आत्म-सन्तुष्ट भी ऐसे कि जैसे प्रेमचन्द का कोई बिरला किसान जो निजी सीमाओं से आक्रान्त भले ही हो कर्जदार तो नहीं।

आज जब कि साहित्य-कर्मी की समृद्धि के साथ-साथ उनकी समस्याएँ भी गहरी होती जा रही हैं, यथार्थवाद की आलम-दुलम मांग के साथ ही यह समझने की भी विशेष आवश्यकता है कि कथा-साहित्य ही जन रुचि को सर्वाधिक प्रभावित करता है और सहृदय-वृत्तियों का प्रेरक हुआ करता है। मुझे यह कहने में तनिक भी संदेह नहीं कि फुटपाथ का हमारा अधिकांश कथा साहित्य तथा दुअन्नी रोज के किराए पर युवक-युवतियों द्वारा पढ़े जाने वाले उपन्यास साहित्य को कलंकित करने और अपरिपक्व जन-रुचि को अस्वस्थ बनाने में विशेष कारण हो रहे हैं। यदि ऐसा निरन्तर होता गया तो मानव मूल्यों को लेकर हमारे साहित्य पर बड़ा प्रश्न-चिह्न पुनः अंकित हो उठेगा जिसकी प्रतिक्रिया प्रेमचन्द की नारी-भावना ने अपने युग में की थी। बहुत कोसते रहे हैं हम प्रेमचन्द की नारी को और उनकी उपयोगिता की दृष्टि को किन्तु आज वह तब एक नूतन परख की अपेक्षा रखता है—ऐसी परख जो साहित्य को युग-धर्म का उपकरण मात्र तो नहीं माने किन्तु यह न भूले कि कलात्मकता का सम्बन्ध जन-रुचि के संवर्धन से भी होता है। इसके लिए आवश्यकता इस बात की है कि प्रत्येक स्थान पर हम अनावश्यक निर्णय देने की प्रवृत्ति से बचें अतिप्रधान प्रभाववादी कसौटी ही को समीक्षा का मान दण्ड न मानें और बौद्धिक प्रक्रिया में निजी सहृदय-तत्त्व को भी विस्मृत न करें। प्रेमचन्द की नारी निश्चय ही इस ओर इंगित करती है। मैंने इस सूनी दिशा में बढ़ने का प्रयास किया है और साथ ही यह दिशा उतनी संकरी कदापि नहीं जितनी कि समझी जाती रही है।

अधिक नहीं कहना है क्योंकि अपना कथन तो कृति स्वयं ही हुआ करती है किन्तु यह मैं कैसे न कहूँ और किन शब्दों में कहूँ कि श्रद्धेय गुरु श्री महेन्द्र चतुर्वेदी जी के निरीक्षण निर्देशन से ही नहीं व्यक्तित्व से भी मैंने बहुत कुछ

सीखा है। ऐसी प्रेरक शक्ति भाग्य ही से मिला करती है। मेरे लिए गर्व का विषय है कि पूज्य गुरुवर डा० नगेन्द्र के चरणों में विद्या-प्राप्ति का अवसर मुझे मिला है। श्रद्धेय डा० उदयभानुसिंह डा० सावित्री सिन्हा डा० विजयेन्द्र स्नातक डा० दशरथ ओझा श्री बलराज महाजन डा० भोलानाथ तिवारी तथा डा० ओम्प्रकाश—ऐसे सर्वमान्य तथा आदर्श गुरु-वर्ग से उऋण नहीं हो सकता हूँ। मैं अत्यन्त आभारी हूँ नेशनल पब्लिशिंग हाउस के संचालक का जिनके कारण यह पुस्तक प्रकाश में आ सकी है तथा जिनके स्नेहमय व्यवहार ने मुझे सदैव आकर्षित किया है। परम सुहृद श्री चेतन पाराशर से मेरे संघर्षमय जीवन को भी प्रेरणा मिलती रही है और प्रस्तुत पुस्तक की पाण्डु-लिपि को उत्साह-पूर्वक सुनने के उपरान्त जो परामर्श मिलते रहे हैं उनका सम्यक् अभिव्यक्ति नहीं अनुभूति ही दे है।

रणधीर गवर्नमेंट कालिज
कपूरथला
फ़रवरी १ १९६२

विनीत
ओम् अवस्थी

क्रम

प्रेमचन्द पूर्व हिन्दी उपन्यास में नारी चित्रण

साहित्य और नारी का सम्बन्ध शाश्वत है पर इस सम्बन्ध को निभाना भी कुछ कम गहरी समस्या नहीं है। यही कारण है कि आधुनिक युग से पूर्व हिन्दी-साहित्य में सामान्य नारी-भावना की अभिव्यक्ति अत्यन्त एकांगी समाज निरपेक्ष अविकसित एवं प्राय: पंगु रही है। वैदिक काल में जिस नारी के सहयोगाभाव में मोक्ष-सिद्धि तक अप्राप्य समझी जाती रही तथा जिसे मनु ने मर्यादा का स्थान दिया आर्यों की शान्ति-व्यवस्था में ही उसे पुत्र-प्राप्ति का साधन-मात्र समझा जाने लगा था। मुसलमानी सभ्यता के आगमन (७ ई.) से तो नारी चारदीवारी के भीतर पर्दे के पीछे की वस्तुमात्र बन गई। पुरुष और नारी का सम्पर्क केवल रातों अथवा केवल बाजारी कोठों ऐसा रह गया। फलत: हिन्दी-साहित्य के आदिकाल की नारी भी भोग प्राधान्या ही रही। भोग से निपटने के दो ही स्पष्ट मार्ग तत्कालीन साहित्य में परिलक्षित होते हैं—भोग से अत्यन्त विनिवृत्ति अथवा उसमें अंध प्रवृत्ति। बौद्धों एवं जैनियों के विरक्तिमूलक साहित्य में नारी की छाया तक से दूर रहने के उपदेश मिलते हैं तो वाममार्गी तो थे ही विशुद्ध काममार्गी किन्तु जहाँ तक वीरगाथाओं का सम्बन्ध है वहाँ भी नारी प्राय: वासनाजन्य आकर्षण का ही विषय है और उसका चित्रण उपभोग्या का है प्रेरक शक्ति अथवा पुरुष की सहगामिनी का नहीं। वस्तुत: इन सभी साहित्य-धाराओं में दृष्टि-भेद मात्र है नारी भावना का दृष्टिकोण मूलत: एक उसके सम्भोग्या रूप का ही है।

दोनों भावनाओं (विरक्तिमूलक और विलास-प्रवृत्तिमूलक) में सामंजस्य भक्तिकाल में भी स्थापित न हो सका। विरक्तिमूलक दृष्टिकोण ही बहुविधि प्रतिपादित होकर उभर आया। कबीर ने जब 'बालम आव हमारे गेह रे, तुम बिन दुखिया देह रे' कहा होगा तो उनके समक्ष नारी की दैहिक आवश्यकताएं अवश्य रही होंगी किन्तु नारी को आदर वह भी नहीं दे सके उसकी 'झाँई' से बहुत दूर जाकर ही उन्होंने मधुर भाव की कल्पना की। वस्तुत: नारी को आदर की दृष्टि से देखे बिना उसके मन की अथाह गहराई तक पहुँचना

असम्भव है, किन्तु तुलसीदास ने भी ऐसा नहीं समझा और 'दीपशिखा सम युवति तन' तथा 'अधम तें अधम अधम अति नारी' कह-कह कर उन्होंने साधारण नारी को अनादर की दृष्टि से देखा है। साथ ही नारी के आदर्श-रूप में उन्होंने बहुत भारी अलौकिकता को प्रस्तुत किया है। निस्संदेह सीता का आदर्श अपूर्व है किन्तु जगन्माता को पूज्या मानते हुए भी उसको सुलोकवासिनी नारी-सन्तति को जब वह 'पशुओं की-सी ताड़ना की अधिकारिणी' मानते हैं तो स्पष्ट हो जाता है विशेष नारी का विशेष (अलौकिक) रूप ही तुलसी को ग्राह्य था साधारण नारी के प्रति उनका दृष्टिकोण भी मूलतः वैराग्य-प्रेरित ही था। इस प्रकार भक्ति-साहित्य में बची रहती है जायसी की नागमती और पद्मावती तथा सूरदास की राधिका और गोपिकाएँ। नारी का मधुर रूप इनमें अवश्य उपलब्ध होता है परन्तु नारी भावना इनकी केवल मधुर तक ही सीमित है एकांगी है। दूसरे, नारी-रूप इनका भी विशिष्ट है एकदम लौकिक नहीं। रहस्य के पर्दे को ज्योंही थोड़ा ऊपर उठा कर हम झाँकते हैं तो देखते हैं कि सूर जहाँ 'जोग हमको भोग कुब्जहिं' की धारणा से सहानुभूति रखते हैं वहाँ अनेक पदों में नारी उन्हें आध्यात्मिक मार्ग की बाधा-रूप में ही दृष्टिगोचर होती है। जायसी का आलेखन तो ऐसे रूप पर मुग्ध होता है जो इस लोक की वस्तु नहीं है अन्यथा वह भी कह देता है, 'तुम तिरिया मतिहीन तुम्हारी'। इस प्रकार हम देखते हैं कि भक्ति-काल में भी नारी के प्रति स्वस्थ दृष्टिकोण का अभाव है। आदिकाल की नारी-भावना अधिकतः असंयत है तो भक्तिकालीन दृष्टिकोण अत्यन्त बल-साध्य है और अनुभवतः संयत है। इस दृष्टि से यह भावना पूर्ववर्ती भावना से उत्कृष्ट अवश्य है किन्तु है यह भी अस्वस्थ।

काम का अस्वाभाविक निरोध अतिक्रम को जन्म देता है। रीतिकालीन नारी को इसी भावना का शिकार बनना पड़ा। 'कला कला के लिए हो' यह तो सह्य हो सकता है किन्तु जब कला विलासिता के लिए हो जाती है तो समूचे देश पर और उसमें भी विशेषतः नारी पर अस्वस्थ प्रभाव पड़ता है। रजवाड़ों की विलासिता में आ कर कला ने नारी के अंग-अंग तौल डाले। 'परनारी' का 'संजोग' 'जोग हू ते कठिन' माने जाने का अर्थ इसके अतिरिक्त और क्या हो सकता है कि रीतिकालीन नारी भावना केवल उस नारी पर आश्रित है जो केवल रूपसी है केवल शरीर है जो निपट-भोग्या है अदम्य वासना की तृप्ति का साधन-मात्र है—जो नितान्त सामान्या है व्यभिचारिणी है। कहने को तो रीति-काल में भी भक्ति की थोड़ी अभिव्यक्ति पुष्ट तथा

गिरधर आदि के माध्यम से हुई है किन्तु एक तो इनकी नारी-भावना प्रायः वैराग्य की कोटि में ही आती है दूसरे उसकी सत्ता अत्यन्त स्वल्प एवं क्षीण है।

संक्षेपतः हम देखते हैं कि आधुनिक काल के उदय (उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध) तक हिन्दी-साहित्य में नारी के प्रति निम्न दृष्टिकोणों की अभिव्यक्ति हुई है —

(१) नारी से पूर्ण पलायन का विरक्तिमूलक दृष्टिकोण—अधिकांश बौद्ध एवं जैन सिद्धों का धार्मिक साहित्य नाथ सम्प्रदाय की रचनाएं कबीर, दादू पलटू आदि निर्गुणियों का काव्य तथा नीति-कवियों की रचनाएं इसके अन्तर्गत भी आ सकती हैं।

(२) नारी-विशेष के प्रति अलौकिक एवं आदर्शवादी तथा नारी-सामान्य के प्रति विरक्तिमूलक दृष्टिकोण—तुलसीदास ने प्रधानतः इस दृष्टिकोण का प्रतिपादन किया है।

(३) नारी के प्रति प्रेम-साधना का दृष्टिकोण—इसके दो प्रकार हैं

(क) अलौकिक प्रेम-साधना—मीरा सूर तथा सूफियों की रचनाओं में इसका प्रतिपादन हुआ है।

(ख) लौकिक प्रेम-साधना—आलम देव तथा किसी सीमा तक रसखान और घनानन्द आदि की रचनाओं का वर्ण्य विषय यही है।

(४) नारी के प्रति विषय-भोग्या का दृष्टिकोण—वाममार्गी सिद्धों अथवा तान्त्रिक योगियों बिहारी एक सीमा तक विद्यापति तथा अन्य रीति शृंगारियों में इसी दृष्टिकोण की अभिव्यक्ति हुई है।

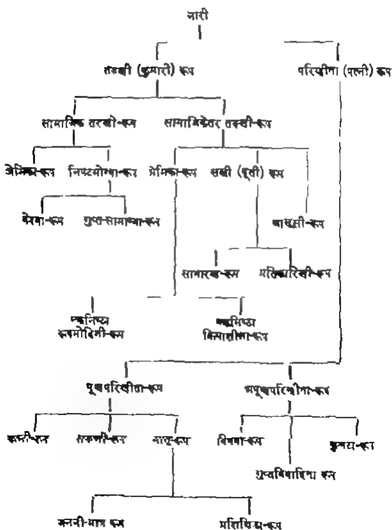
उपर्युक्त विहंगम दृष्टिपात प्रेमचन्द से पूर्व हिन्दी-उपन्यास में नारी चित्रण के संस्कारों एवं प्रेरक शक्तियों को समझने के लिए किया गया है। प्रेमचन्द-पूर्व हिन्दी-उपन्यास की परिधि प्रायः १८८ ई० से लेकर १९१६ ई तक की मानी जाती है। यह वह समय था जबकि भारतीय समाज का सम्पर्क अंगरेजी सभ्यता से उत्तरोत्तर बढ़ रहा था। सभ्यता के नवीन प्रभावों के आकर्षण से एक नूतन समाज का जन्म हो रहा था—ऐसा समाज जिसे अपनी सभ्यता संकुचित तथा पिछड़ी हुई लग रही थी और जो अपने विकासार्थ पाश्चात्य समाज से हिल मिल कर रहना सीख रहा था। इसकी प्रतिक्रिया-स्वरूप ही आर्यसमाज भी वैदिक धर्म की पताका फहराता हुआ सुधारवाद की ओर कदम बढ़ा रहा था। उसके सांस्कृतिक मूल्यों एवं विदेशी सभ्यता के इस संघर्ष को साहित्य-समाज भी अनुभव कर रहा था और कविता के माध्यम से

इसकी अभिव्यक्ति भी प्राप्त हो रही थी किन्तु हिन्दी को उपन्यास तो मिला ही पश्चिम की देन-स्वरूप। इसलिए आकर्षण की एक कोमल भावना पश्चिम के प्रति तत्कालीन उपन्यास-लेखकों में अवश्य रूप से विद्यमान थी। कथावस्तु को बद्ध करने का ढंग तो वे वहीं से सीख रहे थे किन्तु देशव्यापी सुधार आन्दोलनों तथा निजी संस्कारों के कारण पाश्चात्य उपन्यासों के सामाजिक विषय को ग्रहण करना उनके लिए कठिन हो रहा था। नारी-भावना के विषय में भी यही द्वन्द्वात्मक स्थिति थी। पाश्चात्य नारी-रूप का तत्कालीन हिन्दू-समाज में गृहीत होना असम्भव था। दूसरी ओर सामाजिक उपन्यासों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि तत्कालीन उपन्यास-लेखक रीतिकालीन नारी-रूप से भी सन्तुष्ट नहीं थे। किसी भी निश्चित परिणाम के अभाव में सामाजिक उपन्यास-लेखकों ने नारी-चित्रण से प्रायः आँख बचा कर ही निकलना आरम्भ कर दिया और यदि थोड़ी देर के लिए साक्षात्कार किया भी तो नैतिकता एवं प्राचीन उपदेशात्मक संस्कृत-साहित्य की प्रेरणा-स्वरूप पातिव्रत, सहनशीलता आदि की व्याख्या द्वारा राह-चलते उपदेशों की अभिव्यक्ति-मात्र कर दी और यथासम्भव पुरुष-पात्रों के माध्यम से ही अपनी धारणाओं का निरूपण करना आरम्भ कर दिया। किन्तु इतना अवश्य है कि इनकी नारी-भावना रीतिकालीन नारी-भावना से बहुत-कुछ भिन्न है। हिन्दी के सर्वप्रथम उपन्यास 'परीक्षा गुरु' में ही यह विभाजक रेखा स्पष्ट हो जाती है "एक विद्वान् से पूछा गया था कि कोई मनुष्य ऐसा होगा जो किसी रूपवती सुन्दरी के साथ एकान्त में बैठा हो दरवाजा बन्द हो पहरे वाला सोता हो मन ललचा रहा हो काम प्रबल हो और वह अपने दम-दम के बल से निर्दोष बच सके? उत्तर मिला 'हाँ वह रूपवती सुन्दरी से बच सकता है किन्तु निन्दकों की निन्दा से नहीं।'[१] स्पष्ट है कि रीतिकालीन नायक ऐसे अवसर से कभी नहीं चूक सकता था किन्तु श्रीनिवासदास नारी के उस स्थूल रूप को देखते हुए भी उससे दृष्टि बचा कर साफ निकल गए हैं। यहीं से नारी-भावना में अन्तर परिलक्षित हो जाता है।

किन्तु उक्त अन्तर नाममात्र को ही रह जाता है क्योंकि प्रारम्भिक हिन्दी उपन्यास केवल नीति को लेकर पाठकों में वृद्धि न पा सका। बहुत-से उच्च घरानों में तो आदर्शों की रक्षा के हेतु नारी-विषयक उपन्यास का पठन वैसे ही वर्जित था और अत्यधिक व्यस्त मध्यवर्ग को चाहिए था हल्के-फुल्के रोमांच

१ परीक्षागुरु श्रीनिवासदास पृ० १२१

द्वारा मनोरंजन । ऐसी अवस्था में भी कुछ उपन्यास-लेखक आदर्श पर टिके रहे और अपने सामाजिक उपन्यासों द्वारा नैतिक शिक्षा की अभिव्यक्ति करते रहे किन्तु इस कोटि के भी कुछ उपन्यासकार बहक गए और नारी का स्थूल चित्रण उन्होंने प्रारम्भ कर दिया । शेष बहुत से उपन्यास-लेखकों ने विषय की खोज



इसकी अभिव्यक्ति भी प्राप्त हो रही थी किन्तु हिन्दी को उपन्यास तो मिला ही पश्चिम की देन-स्वरूप। इसलिए आकर्षण की एक कोमल भावना पश्चिम के प्रति तत्कालीन उपन्यास-लेखकों में सहज रूप से विद्यमान थी। कथावस्तु को ग्रहण करने का ढंग तो वे नहीं छोड़ रहे थे, किन्तु देशव्यापी सुधार आन्दोलनों तथा निजी संस्कारों के कारण पाश्चात्य उपन्यासों के सामाजिक विषय को ग्रहण करना उनके लिए कठिन हो रहा था। नारी भावना के विषय में भी यही द्वन्द्वात्मक स्थिति थी। पाश्चात्य नारी-रूप का तत्कालीन हिन्दू-समाज में गृहीत होना असम्भव था। दूसरी ओर सामाजिक उपन्यासों के अन्तःसाक्ष्य से ज्ञात होता है कि तत्कालीन उपन्यास-लेखक रीतिकालीन नारी-रूप से भी सन्तुष्ट नहीं थे। किसी भी निश्चित परिणाम के अभाव में सामाजिक उपन्यास-लेखकों ने नारी-चित्रण से आँख बचा कर ही निकलना आरम्भ कर दिया और यदि थोड़ी देर के लिए साक्षात्कार किया भी तो नैतिकता एवं प्राचीन उपदेशात्मक संस्कृत-साहित्य की प्रेरणा-स्वरूप पातिव्रत, सहनशीलता आदि की व्याख्या द्वारा राह-चलते उपदेशों की अभिव्यक्ति-मात्र कर दी और अवसरानुकूल पुरुष-पात्रों के माध्यम से ही अपनी धारणाओं का निरूपण करना आरम्भ कर दिया। किन्तु इतना अवश्य है कि इनकी नारी-भावना रीतिकालीन नारी भावना से बहुत-कुछ भिन्न है। हिन्दी के सर्वप्रथम उपन्यास 'परीक्षा गुरु' में ही यह विभाजक रेखा स्पष्ट हो जाती है 'एक विद्वान् से पूछा गया था कि कोई मनुष्य ऐसा होगा जो किसी रूपवती सुन्दरी के साथ एकान्त में बैठा हो, दरवाजा बन्द हो, पहरे वाला सोता हो, मन समझा रहा हो, काम प्रबल हो' "और वह अपने धर्म-दम के बल से निर्दोष बच सके ? उत्तर मिला 'हाँ वह रूपवती सुन्दरी से बच सकता है किन्तु निन्दकों की निन्दा से नहीं।'[1] स्पष्ट है कि रीतिकालीन नायक ऐसे अवसर में कभी नहीं चूक सकता था किन्तु श्रीनिवासदास नारी के उस स्थूल रूप को देखते हुए भी उससे दृष्टि बचा कर साफ निकल गए हैं। यहीं से नारी भावना में अन्तर परिलक्षित हो जाता है।

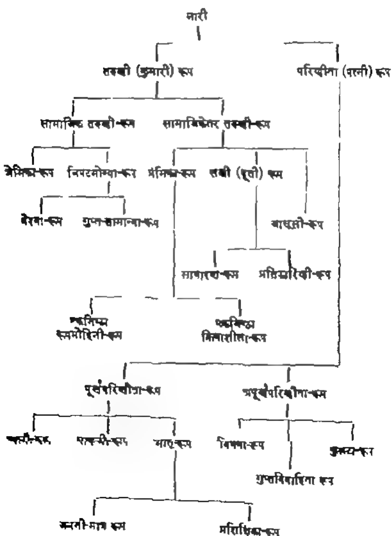
किन्तु उक्त अन्तर नाममात्र को ही रह जाता है क्योंकि आरम्भिक हिन्दी-उपन्यास केवल नीति को लेकर पाठकों में वृद्धि न पा सका। बहुत-से उच्च घरानों में तो आदर्शों की रक्षा के हेतु नारी-विषयक उपन्यास का पठन वैसे ही वर्जित था और मर्यादित व्यस्त मध्यवर्ग को चाहिए था हल्के-फुल्के रोमांस

---

१ परीक्षागुरु श्रीनिवासदास पृ० १२१

द्वारा मनोरंजन। ऐसी अवस्था में भी कुछ उपन्यास-लेखक आदर्श पर टिके रहे और अपने सामाजिक उपन्यासों द्वारा नैतिक शिक्षा की अभिव्यक्ति करते रहे किन्तु इस कोटि के भी कुछ उपन्यासकार बहक गए और नारी का स्थूल चित्रण उन्होंने प्रारम्भ कर दिया। शेष बहुत से उपन्यास-लेखकों ने विषय की खोज

प्रेमचन्द-पूर्व हिन्दी-उपन्यास में



में इधर-उधर भटका तथा पाठक की कमजोर वृत्तियों की परितुष्टि के लिए प्रेरणा-रूप में जो भी चमत्कारमूलक मसाला उन्हें मिला उसके एकत्रीकरण में लग गए। जिन्होंने संस्कृत-आख्यायिकाओं की ओर दृष्टि फेरी उन्होंने 'श्यामा स्वप्न' तथा 'आश्चर्य-वृत्तान्त' की सृष्टि कर डाली और पाठक के आकर्षण के हेतु प्रेम की स्वच्छन्दता रूढ़ियों के प्रति विद्रोह के साथ-साथ अश्लीलता को भी प्रश्रय दिया। जिन्होंने अंग्रेजी साहित्य की ओर झाँका वे भी प्रायः सामाजिकता से बहुत दूर 'जासूस' पत्रिका के सहयोग में जुट गए। एक प्रधान वर्ग फारसी प्रेम-कथाओं हिन्दी-प्रेमाख्यानकों तथा रीतिकालीन संस्कारों को कसौटी मान कर 'चन्द्रकान्ता-सन्तति' 'कनक-कुसुम' तथा 'जीवन-सन्ध्या' आदि कौतूहल-पूर्ण एवं नाममात्र की ऐतिहासिक कथाओं के माध्यम से नारी के उत्तेजक प्रेम प्रधान रूप की विशेष असामाजिक अभिव्यक्ति करने लगा। मूलतः यही है इन उपन्यासों का नारी-रूप। इनमें नारी के तरुणी-रूप एवं परिणीता-रूप की ही मुख्यतः अभिव्यक्ति हुई है। पृ० १ पर दी हुई तालिका की सहायता से अब हम प्रेमचन्द-पूर्व हिन्दी-उपन्यास के नारी-रूप को अधिक स्पष्ट करने का प्रयत्न करेंगे।

तरुणी-रूप

तरुणी-रूप से तात्पर्य इन उपन्यासों में नारी के उस रूप से है जिसे विवाह से पूर्व की कौमार्यावस्था कहते हैं जिसमें किसी प्रणय के प्रति समर्पण की भावना झलकती रहती है तथा जिसमें विवाह के लिए परोक्ष अथवा प्रत्यक्ष प्रयत्न जारी रहते हैं। प्रेमचन्द-पूर्व उपन्यास-साहित्य में सामान्यतः दो प्रकार के तरुणी-रूपों का चित्रण हुआ है—सामाजिक तरुणी-रूप एवं सामाजिकेतर तरुणी-रूप।

(१) सामाजिक तरुणी-रूप

सामाजिक उपन्यासों का यह तरुणी-रूप समाजेतर तिलस्मी अथवा जासूसी उपन्यासों के नारी-रूप की भाँति यथार्थहीन एवं समाज में उपलब्ध न होने वाली कल्पना-क्रीड़ा का वर्णन नहीं है अपितु ऐसे नारी-पात्र अपेक्षाकृत अधिक स्वाभाविक एवं विश्वसनीय हैं। किन्तु युग-धर्म की अभिव्यक्ति भी 'परीक्षा गुरु' 'नूतन ब्रह्मचारी' 'आदर्श दम्पती' 'धूर्त रसिकलाल' 'सौन्दर्योपासक' एवं 'चपला' आदि उपन्यासों के तरुणी-पात्रों के माध्यम से नहीं हुई

है किसी उपदेश अथवा वासनामूलक आकर्षण के हेतु ही इनकी सृष्टि हुई है। सामाजिक वर्ग के इस तरुणी-रूप के अन्तर्गत दो प्रमुख नारी-रूपों की अभिव्यक्ति हुई है—प्रेमिका-रूप और निपटभोग्या-रूप।

(क) प्रेमिका-रूप—इस सामाजिक वर्ग की बहुत कम तरुणियाँ प्रेमिकाएँ हैं क्योंकि नैतिक तथा सुधारवादी उपन्यासों में नैतिकता प्रायः पुरुष-पात्रों में ही उतारी गई है। नारी-पात्रों की संख्या ही एक तो वहाँ बहुत कम है दूसरे उनको उपन्यासों में अपर्याप्त स्थान मिला है—और उस पर भी पत्नी रूप का ही वर्णन अधिक हुआ है। ठाकुर जगमोहनसिंह के 'श्यामा-स्वप्न' किशोरीलाल गोस्वामी के 'चपला' लज्जाराम मेहता के 'धूर्त रसिकलाल' तथा 'स्वतन्त्र रमा और परतन्त्र लक्ष्मी' एवं रत्नचन्द प्लीडर कृत 'नूतन चरित' आदि सामाजिक उपन्यासों में नारी के प्रेमिका-रूप का चित्रण हुआ है। शृंगार का चोखा प्रदर्शन करती हुई एकनिष्ठता इस वर्ग की प्रमुख विशेषता है। प्रेम की स्वच्छन्दता से सभी प्रेमिकाएँ अछूती हैं। सामाजिक रूढ़ियों के प्रति इनकी प्रेम भावनाओं में असन्तोषजन्य काम-कुण्ठाओं की अभिव्यक्ति मिलती है। विवाहित पुरुष से प्रेम अजातीय तथा रीतिहीन विवाह एवं अस्वस्थ काम-चेष्टाओं ने मिल कर इनके विकास के सभी मार्ग बन्द कर दिये हैं। अतः कोई अस्वाभाविक नहीं है कि इनमें कोई वैविध्य नहीं है और इनका प्रेम तो शरीरों तक ही परिसीमित रहा है। गोस्वामीजी की सामाजिक प्रेमिकाओं में विविध प्रेमानुभूतियों के छींटे अवश्य मिलते हैं, किन्तु गोस्वामीजी के इस कथन से कि "सभी युवक-युवतियाँ एक-दूसरे को घायल करना चाहते हैं पर अभी तक इसका उपाय बहुतों ने नहीं जाना है। इसका अभाव केवल उपन्यास ही दूर करता है।"[1]—निस्सन्देह यही प्रकट होता है कि गोस्वामीजी ने इन प्रेमिकाओं के पीछे किसी महत् उद्देश्य की कल्पना नहीं की थी और किस प्रकार उपयोगिता एवं मनोरंजन की आड़ में अस्वस्थ पाठक की अस्वस्थ वृत्तियों का लाभ उठा कर उसे और भी अस्वस्थ बनाया गया यह भी सहज ही स्पष्ट हो जाता है।

(ख) निपटभोग्या रूप—तरुणी के प्रति ऐसे दृष्टिकोण पर बहुत-कुछ रीतिकालीन छाप विद्यमान है। प्रेमिका-रूप एवं निपटभोग्या-रूप में अन्तर केवल एकनिष्ठता का ही है। मूलतः दोनों ही रूप उपभोग्या के हैं। इस तरुणी-रूप की अभिव्यक्ति दो माध्यमों से हुई है—वेश्याओं के माध्यम से तथा पुरुष

१ 'आलोचना' का उपन्यास-विशेषांक (१३) पृ० ७८

सामान्याओं के माध्यम से।

(अ) वेश्या-रूप—नीति पर आधारित उपन्यासों में वेश्याओं का केवल उल्लेख ही मिलता है किन्तु अन्य प्रेम-प्रधान उपन्यासों में पात्र-रूप भी उन्हें दिया गया है। 'परीक्षा-गुरु' में यदि उल्लेख-मात्र मिलता है तो गोस्वामीजी की 'चपला' तथा देवकीनन्दन खत्री-कृत 'काजर की कोठरी' में प्रत्यक्ष वेश्याओं से साक्षात्कार होता है।

(आ) गुप्तसामान्या-रूप—सामाजिक मान्यतों को वेश्याओं से भी अधिक अनिष्ट की आशंका उन गुप्तसामान्याओं से रहती है जिनकी रातें बिकती हैं और दिन पवित्र रहते हैं। 'गुलाम दस्तगीर अपनी भगिनी के संग इश्क का दम भरता हुआ नज़र आया'[1] 'राधाकान्त! अंधी अभी इसका उपपति इसे संकेत से बुला रहा है'"[2] "तुम मुझे अपने निकट से न हटाओ इस गुलशाम सुहावनी निशा में मेरी मनोकामना पूर्ण करो ऐसा सुख बड़े भाग्य से मिलता है"[3] तथा "नित उसका (देवहूती का) जी कामिनीमोहन की ओर खींचने के लिए वासमती (घर की मालिन) उपाय करती"[4] आदि आदि उदाहरण इन उपन्यासों में भरे पड़े हैं। यद्यपि इस प्रकार की दुष्टताओं से परहेज रखने के उपदेश भी साथ-साथ ही चिपका दिये गए हैं, तथापि इसमें कोई सन्देह नहीं कि नारी का यह असत्य, विकृत एवं अश्लीलतम रूप है और पात्र विकास के अभाव में पाठक पर इसका अस्वस्थ प्रभाव भी अवश्यम्भावी है।

(२) सामाजिकेतर तरुणी-रूप

इस नारी-रूप से प्रेमचन्द-पूर्व हिन्दी-उपन्यास के उन तिलस्मी जासूसी एवं अंशतः ऐतिहासिक तरुणी-पात्रों का सम्बन्ध है जिनका क्रिया-कलाप कौतूहल एवं चमत्कारमय अभिव्यक्त हुआ है तथा जो समाज में प्रायः उपलब्ध नहीं होता। कल्पना की अतिशयता के सहारे ही इनकी निर्मिति हुई है। तो भी पाठक यह विस्मृत नहीं कर पाता कि ये शरीरधारी तरुणियाँ हैं और नायक को अभीष्ट बाधाओं को नाँघ कर इसी अन्तिम पड़ाव तक पहुँचाता है। इनके तीन प्रकार मिलते हैं—प्रेमिका-रूप दूती अथवा सखी रूप तथा जासूसी-रूप।

---

१ राधाकान्त ब्रजनन्दन सहाय पृ [illegible]

२ ,, पृ० ६७

३ ,, पृ [illegible]

४ अधखिला फूल अयोध्यासिंह उपाध्याय पृ १

(क) प्रेमिका-रूप—नायक के अनुरूप ही ये सभी प्रेमिकाएँ अनुपम रूपवती हैं तथा इनका सम्बन्ध भी प्राय: राजन्य वर्ग से है। इन्हीं के प्रेम और वीरता के स्वच्छन्द प्रसंगों को लेकर उपन्यास का प्रासाद खड़ा किया जाता है। अपने पात्र के प्रति ये एकनिष्ठा हैं तथा बहुपत्नीक नायक को भी एक बार मन दे डालने पर अपने 'दामन को पाक' रखती हैं। इन प्रेमिकाओं के भी दो रूप हैं

(अ) एकनिष्ठा-रूप—मोहनी-रूप—इस वर्ग की प्रेमिकाएँ अनिन्द्य रूप से विभूषित हैं किन्तु इनकी प्रमुख विशेषता नायक को मोहित करना ही है। नायक को सक्रिय सहायता इनसे प्राप्त नहीं होती। तिलस्मी एवं ऐयारी उपन्यासों की नायिकाएँ प्राय: इसी वर्ग में आती हैं। संदेशपूर्ण ऐयारों के माध्यम से ही नायक तक इनकी पहुँच होती है। यही कारण है कि कार्तिकप्रसाद खत्री-लिखित 'जीवनसंध्या' के तेगसिंह 'फुलवारी के फूल' (राजकुमारी) को चाहते हैं बनैले फूल (दीन युवती) को तुच्छ समझते हैं।

(आ) एकनिष्ठा क्रियाशीला-रूप—रूप-माधुरी के साथ-साथ इस उपवर्ग की प्रेमिकाएँ अपने असाधारण वीर-कार्यों द्वारा पुरुष-वेश धारण करके भी नायक को आकर्षित करती हैं। कभी-कभी तो नायक के मार्ग को अकण्टक बनाने के लिए नायक के प्रयत्नों से भी महत्त्वपूर्ण प्रयास ये कर डालती हैं तथा फाँसी के तख्ते से नायक को उतार लाने की क्षमता भी इनमें विद्यमान है। किशोरी लाल गोस्वामी के 'कनककुसुम' की मस्तानी ऐसी ही नायिका है। अपनी क्रियाशीलता एवं एकनिष्ठता के कारण ही मुस्लिम होती हुई भी यह बाजीराव द्वारा अपने अन्तःपुर में गृहीत होती है। देवकीनन्दन खत्री-कृत 'कुसुमकुमारी' का नायक रणवीरसिंह तो 'नायिका के दरवाजे की खाक छानने'[1] में ही अपनी इज्जत समझता है और यदि कुसुमकुमारी उसकी सक्रिय सहायता जो नहीं होती तो उसके अभीष्ट की सिद्धि कदाचित् सम्भव नहीं थी।

(ख) दूती अथवा सखी-रूप—सामाजिकेतर उपन्यासों में नायिका के उपरान्त इसी नारी-रूप का महत्त्वपूर्ण स्थान होता है। नायिका के प्रेम को सफल बनाने के लिए ये ऐयार भी बनती हैं और सर्वतोभावेन सहायता करती हुई इन दूतियों की प्राय: नायक के किसी मित्र से आशनाई भी हो जाती है। यदि नायक का सखा विश्वासपात्र निकला तो इनके साधारण प्रेम की अभिव्यक्ति होती रहती है और यदि स्वभाववश नायक-सखा नायक-द्रोही हो गया तो भी ये प्राय: उस पर विश्वास करती रहती हैं किन्तु अपने प्रेम का अभी पात्र द्वारा ही तिर

---

१ कुसुमकुमारी (प्रथम भाग) देवकीनन्दन खत्री पृ. ५

स्कार इन्हें सह्य नहीं होता और 'अच्छा रे दुष्ट देख मैं तुमसे कैसा बदला लेती हूँ'[१] आदि कह कर प्रतिकारिणी का रूप धारण कर लेती है।

(घ) जासूसी-रूप—यह नारी-रूप पश्चिम से गृहीत जासूसी उपन्यासों का होने के कारण एकदम अभारतीय है। इसलिए इन तरुणियों में वैविध्य मिलता है। कूटनीतिपूर्ण हत्यारी कुटिलाओं के दर्शन होते हैं तो प्रधान जासूस की सहायक प्रमिकाओं की भी कमी नहीं है। वस्तुतः जासूसी उपन्यासों का धरातल सांसारिक एवं विश्वसनीय होते हुए भी इनका तरुणी-रूप अमनोवैज्ञानिक असामाजिक एवं कृत्रिम है। गोस्वामीजी की 'तारा' के अतिरिक्त गहमरीजी के प्रायः सभी उपन्यासों में इस वर्ग के नारी-पात्र मिल जाते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रेमचन्द-पूर्व हिन्दी-उपन्यास में चित्रित तरुणी रूप सामाजिक तथा असामाजिक दोनों रूपों में रीतिकालीन संस्कारों की प्रबलता के कारण प्रधानतः नारी के प्रति भोग्या के दृष्टिकोण से ही प्रभावित है, संस्कृत एवं पुराणों का आधार जहाँ मिला है वहाँ अल्पकिंचित् नैतिक हो गया है तथा प्रेमाख्यानकों के प्रभावस्वरूप इसमें नायिका की प्राप्ति के हेतु नायक को प्रयत्नशील दिखाया गया है। प्रेम में व्यक्ति से बाहर कर्तव्य के लिए स्थान यहाँ बहुत ही कम है और यह भी कि तत्कालीन आदर्श गृहस्थ इसे अश्लील एवं अमर्यादित समझते हुए इससे सँभल कर चलने में ही अपना श्रेय मानते थे।

परिणीता-रूप

परिणीता अथवा पत्नी-रूप की अभिव्यक्ति प्रेमचन्द-पूर्व हिन्दी-उपन्यास में दो प्रकार से हुई है—पूर्ण-परिणीता तथा अपूर्ण-परिणीता रूपों के माध्यम से।

(१) पूर्ण परिणीता-रूप

पत्नी का यह आदर्शावलम्बित रूप सामाजिक उपन्यासों में प्रायः ऐसे उपदेशों के आधार पर ही प्रतिपादित हुआ है

> "पतिं या नातिचरति मनोवाग्देहसंयता।
> सा भर्तृ लोकान् प्राप्नोति सद्भिः साध्वी न चोच्यते॥

१ 'कुसुमकुमारी' में कालिन्दी अनन्तनाथ से (भाग द्वितीय) देवकीनन्दन खत्री

व्यभिचारात्तु भर्तुः स्त्री लोके प्राप्नोति निन्द्यताम् ।
शृगालयोनिमाप्नोति पापरोगैश्च पीड्यते ॥"

'दलित कुसुम' की भूमिका में प्रकाशक रामकृष्ण वर्मा लिखते हैं— 'हमारे देश की आर्यकुल ललनाओं का पातिव्रत धर्म भी भूमण्डल में निष्कलंक शशांक की विमल कौमुदी वत् विभासित हो रहा है। हमारे यहाँ का पातिव्रत हम भारतवासियों का प्रधान गौरव-स्थल है कि जिसे पढ़ और सुन कर दूसरे देशों की अबलाएँ लजाती और पछताती हैं। ऐसे देश की स्त्रियों के अमल धवल कीर्तिपुंज को कल्पित कल्पना से स्वयं कलुषित करना बुद्धिमानी नहीं है।'[1] 'परीक्षा गुरु' का 'पतिव्रता' प्रकरण भी इस दृष्टि से पठनीय है। 'अधखिला फूल' में भी कहा गया है कि "जो अपने पति की बात नहीं मानती उसका भला कभी नहीं होता।"[2] इस प्रकार हम सभी सामाजिक उपन्यासों में 'ललनाओं के प्रति पातिव्रत के' उपदेश भरे पड़े हैं। "संसार में इससे बढ़ कर कोई दुख नहीं कि सहधर्मिणी दुष्टा मिले"[3] और "भले ही स्वामी कुष्ठी कुचाली कर्कश और क्रोधी क्यों न हो किन्तु स्त्री को उस पर अचल भक्ति रखना ही मुख्य धर्म है।"[4]

'परीक्षा गुरु' में परिणीता का एक अन्य सुन्दर पक्ष भी उभरता है। मदन-मोहन की पत्नी आदर्श पत्नी होते हुए भी एक दूसरे पुरुष ब्रजकिशोर को अपने जीवन में धर्म-भाई का दर्जा देती है। नारी भावना का यह विस्तार प्रेमचन्द पूर्व उपन्यास में अन्यतम है। 'परीक्षागुरु' की यह व्यापक भावना निश्चय ही एक महान् उपलब्धि है।

परिणीता-रूप में पत्नी द्वारा पति-सुधार एवं नारी के परोपकारी रूप के दर्शन भी कभी-कभी हो जाते हैं। 'दलित कुसुम' की 'कुसुम' अपने आचरणों से रामनाथ को सुमार्ग पर लाती है। रामनाथ के इस कथन में कि "कुसुम का इतना ही कहना है कि शत्रु हो या मित्र सब को यहीं ठौर मिले"—नारी के सहज स्नेहशील एवं परोपकारी हृदय का परिचय मिलता है।

'ठेठ हिन्दी का ठाठ' में अयोध्यासिंह उपाध्याय ने अनमेल विवाह की समस्या को भी उठाया है, किन्तु दृष्टि मूलतः भाषा पर ही केन्द्रित होने के

१ दलित कुसुम कार्तिकप्रसाद खत्री पृ० ११९
२. अधखिला फूल अयोध्यासिंह उपाध्याय
३ राधाकान्त व्रजनन्दन पृ० ११
४ दलित कुसुम कार्तिक प्रसादखत्री पृ० १४

कारण इसे प्रयास-मात्र ही कहा जा सकता है।

सामाजिकेतर उपन्यासों में परिणीताओं के दो रूप मिलते हैं—पत्नी तथा सपत्नी-रूप। प्रायः ये सभी परिणीताएँ पूर्ण पतिव्रता हैं और हँस-हँस कर सपत्नियों का स्वागत करती हैं क्योंकि उनका विश्वास है कि उनके पति को यही शोभा देता है कि "संगीहृत सुकृतिन परिपालयन्ति।"[1] किशोरीलाल गोस्वामी के 'कनककुसुम' का एक वर्णन देखिये—"काशी बाई (बाजीराव की पत्नी) अपने मुँह का पर्दा उठा कर बाजीराव के सामने चली आई और मस्तानी (बाजीराव की प्रेमिका) को गले लगा कर और उसका हाथ बाजीराव के हाथ में देकर प्रसन्नता से कहने लगी 'लीजिये अब व्यर्थ के सोच-विचारों को छोड़िये और अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार अब इस अवनकुल-बाला को ग्रहण कीजिये।'"[2] अन्तर्जातीय विवाह की स्वच्छन्दता भी यहाँ विद्यमान है।

(ख) मातृ-रूप—पूर्णपरिणीता-रूप का प्रौढ़ एवं विकसित रूप मातृ रूप होता है। प्रेमचन्द-पूर्व हिन्दी-उपन्यास में इस मातृ-रूप के उदाहरण अधिक नहीं मिलते किन्तु जितने भी मिलते हैं उनके आधार पर जननीमात्र तथा प्रशिक्षिका जननी इसके दो रूप माने जा सकते हैं। जननीमात्र वह नाममात्र की माता है जिसका कर्तव्य जन्म देने के साथ ही सन्तान के प्रति समाप्त हो जाता है। परिस्थितियों की माँग के कारण अधिकांश उपन्यासों में ऐसे ही अविकसित मातृ-रूप की अभिव्यक्ति हुई है। किन्तु प्रशिक्षिका जननी का स्थान महत्त्वपूर्ण होता है। अपनी सन्तान को वह अपने आदर्श संस्कारों में ढाल कर उसका पालन करती है। "मुझको अपने सुख-दुःख का कोई विचार नहीं है। मैं तो उनके (पतिदेव) के साथ रहने में सब तरह से प्रसन्न हूँ किन्तु इन छोटे-छोटे बच्चों की क्या दशा होगी इनको विद्या कौन पढ़ावेगा नीति कौन सिखावेगा इनकी उमर कैसे कटेगी?"[3] 'परीक्षागुरु' के इस मातृ-रूप की भाँति ही 'अधखिला फूल' की पार्वती भी सराहनीय है। युवती देवहूति को सन्मार्ग गामिनी बनाने के लिए वह उसे निरन्तर सचेत करती रहती है "देवहूति! उस भौंरे को देखती हो जो पति इसकी है, ठीक यही कुचाली पुरुषों की है।"

(२) अपूर्णपरिणीता-रूप

विधवाएँ, भगायी हुई युवतियाँ तथा पति पर अपूर्ण विश्वास लाने वाली कुलटाएँ इसी वर्ग के अन्तर्गत आती हैं। विधवा रामो का यमाराम से अनुचित

[1-2] कनककुसुम किशोरीलाल गोस्वामी पृ ५१

[3] परीक्षागुरु श्रीनिवासदास पृ १५५-५६

सम्बन्ध है।[1] सन्यासी की लड़की माँ को धोखा देकर सुखदेव के साथ भाग खड़ी होती है[2] और थियेटर की अभिनेत्रियाँ अधिकांश उपपति भी रखती हैं।[3] राजन्य वर्ग की परिसीमाओं के विषय में भी ऐसे कथनों का अभाव नहीं है कि "वे भी शायद अपने शौहर को दिल से भुलाकर निजाम पर मेहरबान हो गई होंगी।"[4]

परिसीमाएँ

इस प्रकार हम देखते हैं कि हिन्दी-साहित्य में नारी के प्रति चिरप्रचलित विलास प्रवृत्तिमूलक दृष्टिकोण के प्रबल संस्कार हिन्दी-उपन्यास के शैशव में विद्यमान हैं और मसें भीगने से पूर्व ही वह काम का शिकार हो गया है। नारी के प्रति एक सन्तुलित दृष्टिकोण के अभाव के कारण उस में नारी-चित्रण की निम्न परिसीमाएँ प्रमुखतः परिलक्षित होती हैं—

१. प्रेमचन्द-पूर्व हिन्दी-उपन्यास में नारी-भावना की अत्यन्त एकांगी एवं भ्रमात्मक अभिव्यक्ति हुई है। नारी रमणी-मात्र ही नहीं है, जीवन-क्षेत्र में उसके अनेक गार्हस्थ्य एवं प्रेरक-रूप भी होते हैं। इन उपन्यासों के नारी-चित्रण में सब से बड़ा दोष यही है कि इन में ऐसे एक भी सजीव नारी-पात्र की अवतारणा नहीं हुई जो पुरुष के लिए आकर्षण-मात्र न रह कर विश्वस्त प्रेरणा बने और सरस रागात्मक अनुभूति के तारों को स्नेह-परस देकर भी पुरुष को कर्त्तव्य की ओर प्रेरित करके उसकी श्रद्धा एवं अर्चना का विषय बन सके।

२. नारी-पात्रों का तनिक भी मनोवैज्ञानिक चित्रण इन उपन्यासों में नहीं हुआ है। विकास एवं मनोद्वन्द्व के अभाव में ये पात्र अनावृत अथवा वस्त्र-आवृत प्रस्तर-प्रतिमाएँ बन कर रह गए हैं। प्रायः श्वेता का श्वेता-रूप तथा श्यामा का श्यामा-रूप ही इन में उपलब्ध होता है। श्यामा के शुभ्रांश और श्वेता के कलुष की कल्पना ही इनमें नहीं की गई है। भूल से कहीं की भी गई है तो वह अश्लीलता की ही अभिव्यक्ति बन कर रह गई है। आदर्श पाठक की सहानुभूति उसे नहीं मिलती।

---

१. ललित कुसुम कार्त्तिकप्रसाद खत्री
राधाकान्त ब्रजनन्दन सहाय
३. ,, ,,
४. स्वर्गीय कुसुम किशोरीलाल गोस्वामी १ १४८

नारी-जीवन की समस्याओं ने इन उपन्यास-लेखकों को आकृष्ट नहीं किया है। बहुपत्नीत्व का इन में समर्थन एवं प्रचुर वर्णन हुआ है, किन्तु अपने-आप में भरपूर समस्या होते हुए भी इसे समस्या का रूप कहीं नहीं मिला है। इसी प्रकार विवाह, प्रेम, जीवन-यापन आदि की किन्हीं भी वास्तव अथवा साधारण समस्याओं का उद्घाटन यहाँ नहीं हुआ है। युग-धर्म की अभिव्यक्ति तो बहुत दूर की बात है।

४ नारी-पात्रों की अपेक्षा पुरुष-पात्रों को कहीं अधिक महत्त्व इन उपन्यासों में मिला है। यहाँ नारी अबला का ही पर्याय मानी गई है। नैतिक एवं शिक्षाप्रद उपन्यासों के तो नाम ही नायक-प्रधान हैं, किन्तु अन्य बहुसंख्यक उपन्यासों के नाम नायिका पर अवलम्बित होते हुए भी पुरुष की समतुल्या नारी का आभास इन में नहीं मिलता।

वस्तुतः हिन्दी के प्रेमचन्द-पूर्व उपन्यास-लेखकों के उपचेतन में नारी के प्रति परस्पर-विरोधी मनोवृत्तियों ने कुछ इस तरह घर किया हुआ है कि भूमिकाओं में विलास-चित्रण को गर्हित कहने पर भी वे स्वयं उस में प्रायः डूब गए हैं। उसके रोमांस एवं अश्लील तत्त्वों के बिना जैसे वे रह ही नहीं सकते। आज के फुटपाथ के उपन्यास जिस प्रकार अस्वस्थ पाठकों की वृद्धि कर रहे हैं इसी प्रकार इन उपन्यास-लेखकों ने अपने आदर्श को इतने उथले धरातल पर लाकर खड़ा कर दिया है कि आज के पाठक के सम्मुख इनका निजी व्यक्तित्व ही अत्यन्त धूमिल बन कर रह जाता है। बुराई का निवारण बुराई से कभी नहीं होता। पाठक के सम्मुख बुराई का महत्त्व अन्त तक बखानते जाना और उसकी अन्तिम मंजिल पर उसके बीच प्रवेश के लिए निषेध-संकेतों को चिपका देने से उस पाठक का कल्याण कैसे हो सकता है जो लेखक के साथ-साथ ही भीतर पहुँच गया हो! तो भी जिस प्रकार पथ-भ्रष्ट मनुष्य की आचरणों में भी कहीं न कहीं अच्छाई के चिह्न मिल ही जाते हैं उसी प्रकार जब हम अपने-आप को इतना-सा दिलासा दे लेते हैं कि यह बीसवीं शताब्दी नहीं थी और यह भी कि हिन्दी-उपन्यास हिन्दी-गद्य की नवीनतम विधा है तो इन उपन्यासों के नारी चित्रण में भी उपलब्धियों के संकेत कहीं न कहीं मिल ही जाते हैं। इस दृष्टिकोण से इतना ही कहा जा सकता है कि प्रेमचन्द-पूर्व हिन्दी-उपन्यास में नारी के प्रति विलास-प्रवृत्तिमूलक संस्कारों की प्रचुरता होते हुए भी इसका अपना ऐतिहासिक महत्त्व है, क्योंकि यह नारी-भावना रीतिकालीन दृष्टिकोण एवं आधुनिक नारी-रूप की विभाजक रेखा है। 'राधाकान्त' की भूमिका में व्रजनन्दन सहाय लिखते हैं 'मुझे भी अपने पाठकों से भूमिका के रूप में यह कहना है कि

अब घटनापूर्ण अश्लीलतामय चरित्रनाशी रसीली कहानियाँ पढ़ते-पढ़ते आप लोगों का जी ऊब जावे तब आप इसे हाथ में लीजियेगा और देखियेगा कि आप लोगों के मन को इससे कुछ विश्राम मिलता है या नहीं आप लोग कुछ सुख-शान्ति इसमें अनुभव करते हैं या नहीं।" आगे चल कर वह लिखते हैं "आधुनिक भावों और घटनाओं का इसमें यथेष्ट समावेश है जिसमें परोक्ष रूप से सामाजिक कुरीतियों पर साधारण आलोचना की गई है। हिन्दी-उपन्यास के [illegible] वर्ष में ऐसे कथन भी मिल जाते हैं 'देश की स्त्रियों के अमल-धवल कीर्तिपुंज को कल्पित कल्पना से स्वयं कलुषित करना बुद्धिमानी नहीं है।'[1] स्पष्ट है कि उपन्यास-लेखकों के नारी के प्रति दृष्टिकोण में एक परिवर्तन पनपना चाह रहा था। अयोध्यासिंह उपाध्याय के दोनों उपन्यासों में अनमेल विवाह एवं यौन सम्बन्धी नारी-समस्याओं के अस्फुटित संकेत भी मिलते हैं। नारी-भावना के क्षेत्र में इसे एक उपलब्धि कहा जा सकता है और निश्चय ही यह साधारण उपलब्धि नहीं है।

किन्तु सत्य तो यह है कि प्रेमचन्द का अवतरण अभी उपन्यास-साहित्य में होना था और नारी के प्रति स्वस्थ सन्तुलित दृष्टिकोण एवं युगान्तरकारी नारी पात्रों की सृष्टि अभी उसी भविष्य के गर्भ में थी।

१. 'दलित कुसुम' की भूमिका

२

प्रेमचन्द के नारी पात्रों की सामाजिक पृष्ठभूमि

साहित्य समाज से अलग रह कर भी नहीं सकता परिस्थितियों से भिन्न रह कर पनप नहीं सकता और युग-धर्म से बहुत दूर आकाश में उड़ानें भर कर वह मानुभूतिमय एवं ग्राह्य नहीं हो सकता। नारी उसी समाज का अवयव है अतः अनिवार्यतः सद्-साहित्य में वर्णित नारी को समाजगत नारी की यथार्थावस्था से बहुत दूरस्थ नहीं माना जा सकता। साहित्य की नारी-भावना से अवगत होने के लिए तत्कालीन नारी के सामाजिक रूप का सम्यक ज्ञान विशेष सहायक होता है और फिर बीसवीं शताब्दी तो है ही साहित्य में स्वस्थ समाज के नैकट्य एवं समाज में नारी के विमुक्त रूप की पहचान का अध्याय जिसके आरम्भ में प्रेमचन्द का अपूर्व योगदान समाज की चेतना का ही प्रतिरूप है। स्वयं प्रेमचन्द ने साहित्य की सर्वोत्कृष्ट परिभाषा 'जीवन की आलोचना' मानी है। फलतः उनके साहित्य में प्रतिपादित नारी-पात्रों की रूप विशेषताओं को समझने के लिए तत्कालीन नारी की सामाजिक स्थिति का संक्षिप्त पर्यवलोकन भी आवश्यक हो जाता है।

स्थूलतः प्रेमचन्द-युगीन नारी को दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है— ग्रामीण नारी और नागरिक नारी। यह वर्गीकरण इसलिए आवश्यक हो गया है कि तत्कालीन सुधार-आन्दोलनों एवं युग की बदलती हुई करवटों के परिणामस्वरूप जो नारी चेतना अनुबुद्ध हो रही थी उसका क्षेत्र प्रायः नगरों तक ही सीमित था। एक में बहुत-कुछ प्राचीन था तो दूसरे में बहुत-कुछ अर्वाचीन और इस दृष्टि से दोनों वर्गों की विशेषताएँ संस्कारों परिस्थितियों एवं प्रेरणा-स्रोतों के अनुसार पृथक-पृथक थीं।

ग्रामीण नारी-रूप

डा॰ शैलकुमारी ने 'आधुनिक हिन्दी-काव्य में नारी भावना' में सन् १९ से १९३० ई॰ तक के काल को हिन्दी-काव्य में नारी-भावना की दृष्टि से संक्रान्ति-युग (१९ १९२ ई॰) और परिवर्तन-युग (१९२ १९३० ई॰) इन इन दो शीर्षकों के अन्तर्गत विभाजित किया है किन्तु ग्रामीण नारी का यथा-

वत् एवं विशेष उल्लेख उनका भी विषय नहीं रहा है। कारण यह है कि इन चारों शताब्दियों में नारी के जिस रूप का वर्णन कविता में हुआ है उसमें नारी के सामूहिक एवं वांछनीय रूप का गान उपस्थित किया गया है और वह रूप प्रायः सभ्य शिक्षित एवं विकासोन्मुख नागरिक नारी का ही आदर्श-प्रदत्त रूप है। प्रेमचन्द के पास हिन्दी की ही नहीं अपितु उर्दू के 'सरशार' और 'मिर्जा रुसवा' आदि लेखकों की परम्परा भी थी। इसके अतिरिक्त वह स्वयं भी ग्राम जीवन के पूर्ण अनुभवी थे। इस दृष्टि से वह पहले कलाकार थे जिनकी दृष्टि सभ्यता के आवरणों को चीरती हुई ग्रामीण नारी की निश्छल सहमी हुई, भोली-भाली मूकता तक पहुँची थी और यथार्थ तो यह है कि प्रेमचन्द की नारी भावना का आदर्श भी वहीं की मनोवृत्तियों की निर्मलता से गृहीत है। इसके साथ यदि यह भी कहा जाय कि ग्रामीण नारी ही भारतीय संस्कृति के अनुरूप नारी रही है, तो अत्युक्ति नहीं होगी। गुहा-द्वार पर अहेरी की प्रतीक्षा में बैठी हुई विश्वासरूपिणी प्रस्तरकालीन नारी की अविच्छिन्न परम्परा आज भी भारत के ग्राम्य वातावरण में बहुत-कुछ सुरक्षित रूप में उपलब्ध हो सकती है।

प्रेमचन्द-युग ग्राम-व्यवस्था के ह्रास का युग था। सामन्ती सभ्यता की समाप्ति के उपरान्त गाँवों की आर्थिक एकता भी अन्तिम श्वास ले रही थी स्वतःसन्तुष्ट ग्राम-इकाई को विश्रृंखलित बनाया जा रहा था। उद्योग-धन्धों पर विदेशी हथौड़ों के सबल प्रहार हो रहे थे और बंधावस्त औद्योगिक भी धरती से ही आजीविका ढूँढने के प्रयास कर रहे थे। भूमि की दशा ऐसी थी कि उसपर व्यक्तिगत स्वत्व की स्थापना तो हो गई थी किन्तु उसके राष्ट्रीकरण के कारण लगान की वसूली के हेतु आगत जमींदारी एवं मालगुजारी के दो पाटों में बेचारा औसत किसान पिसा जा रहा था और जब जीवन-संघर्ष उसके लिए असह्य हो जाता तो उदरपूर्ति के लिए उसे भूमि रहन रखनी अथवा बे करनी पड़ती थी यहाँ तक कि प्रायः बेदखल होकर उसे कार्यहीन कारीगरों की भाँति ही निर्धन किसान बनकर आधे अथवा तिहाई पर किसी अन्य की भूमि जोतनी पड़ती अथवा मजदूर बन कर नगरों की धूल छाननी पड़ती या फिर प्रायः फ़ौज में भर्ती होना पड़ता था। इस प्रकार किसानों में भी दो वर्ग होते जा रहे थे—मालिक-किसान और मजदूर-किसान। मालिक किसानों की ऊँचाई का आधार भी अधिकारगत भूमि की बहुलता होने के कारण उच्च मध्य और निम्न के स्तर यहाँ भी विद्यमान थे। इसके अतिरिक्त जमींदार तो थे ही अँगरेजी सरकार के कठपुतले उनके अतिरिक्त साहूकार, दूकानदार तथा निम्न श्रेणी के सेवकवर्गीय मजदूरों के स्तर भी गाँवों में विद्यमान थे। इस तरह एक प्रकार की दास-वृत्ति आरम्भ

से लेकर अन्त तक ग्रामीण वातावरण को जकड़े हुए थी। कृषक असन्तुष्ट थे और धीरे-धीरे एक परोक्ष जागृति की ओर अग्रसर होना चाह कर भी हो नहीं पा रहे थे।

प्रेमचन्दकालीन ग्रामीण समाज की उपर्युक्त अवस्था के आधार पर ग्रामीण नारी को स्तर की दृष्टि से प्रमुखतः दो वर्गों में देखा जा सकता है—

१—बाह्य संघर्ष विरहित स्थिर नारी-रूप

२—परितः संघर्षरत नारी-रूप।

बाह्य संघर्ष-विरहित स्थिर नारी-समाज के अन्तर्गत जमींदार, साहूकार, उच्च तथा मध्यवर्गीय मालिक-किसान, पुरोहित अध्यापक-वर्ग एवं कतिपय चलती वाले दुकानदारों के परिवारों की नारी स्थिति थी। यों तो इन परिवारों में आर्थिक असमानता विद्यमान थी किन्तु नारी की स्थिति की दृष्टि से विशेष अन्तर नहीं था। आजीविका के लिए इस वर्ग की नारी को चिन्ता नहीं थी समाज में पति प्रतिष्ठा के अनुरूप ही उसका भी सम्मान था और उसका निजी क्षेत्र घर की चारदीवारी तक ही वहाँ भी विवशतः पुरुष-वासना एवं निजी मातृत्वपने को अवलम्ब देने तक ही सीमित था। इसलिए बाह्य संघर्ष को उसके जीवन में कोई स्थान नहीं था और यदि कभी परिवार-परम्पराओं तथा पति की अनर्गल कामुकता के कारण आन्तरिक संघर्ष उठता भी तो समाज में निजी स्थान तथा शान्त वातावरण की परिकल्पना उसे स्फुटित नहीं होने देती थी। विवाह के लिए वर्ण-व्यवस्था तथा वंशाभिमान सच्चरित्रता से अधिक महत्त्व रखते थे अतः उसे भाग्य भरोसे ही सन्तोष करना पड़ता था। प्रायः सोलहवें वर्ष से पूर्व ही युवती का परिणयन आवश्यक समझा जाता था और दुर्भाग्यवश विधवा प्रायः बाल-विधवा होने पर उसके पुनर्विवाह की कल्पना को भी कुल के लिए कलङ्क-कालिमा समझा जाता था और भावनाओं को तो उस बेचारी के द्वारा भी कर्मफल भोग के रूप में ही गृहीत किया जाता था। शारीरिक नियमन के अभाव में उससे विकृतियों की असम्भावना नहीं थी। बहुपत्नीत्व के कारण इस वर्ग की नारी को कभी कभी ईर्ष्या एवं दुःख की ज्वाला में जलना भी पड़ता था। धार्मिक रूढ़ियों एवं अन्धविश्वासों पर उसका पूर्ण विश्वास हुआ करता था और इसी विश्वासानुरूपता के कारण ही वह सर्वथा पति का ही अनुगमन करती थी। देव-भक्ति से अधिक धर्म भक्ति अथवा सम्मान भक्ति की ओर उसे आकर्षित होना पड़ता था और इसमें कोई सन्देह नहीं कि देश व्यापी स्वतन्त्रता-लहर प्रायः इसी वर्ग द्वारा गलत समझी गई थी। नगरों में सुधार-आन्दोलनों के प्रभावानुरूप वह नारी भी शिक्षा की ओर मन्द-मन्द कदमों

से अग्रसर की जा रही थी और वह भी तब जब शिक्षा के साधन घर में ही जुटा दिए जाते थे। स्वयं तो वह इस प्रकार प्रायः पत्र-व्यवहार तक की ही शिक्षा प्राप्त कर पाती किन्तु अपनी सन्तान की शिक्षा को वह आवश्यक समझने लगी थी। इस प्रकार यह नारी-रूप यदि भौतिक उपलब्धियों में आवृत था तो दूसरी ओर अपनी ही अपर्याप्तियों के प्रतिबिम्ब देखकर नैतिक एवं राष्ट्रीय विकास की ओर जिज्ञासा की दृष्टि से देख भी रहा था। प्रेमचन्द ने इस प्रकार के स्थिर तथा आत्म-विरोधी नारी-रूप को बहुत कम रचनाओं में प्राधान्य दिया है जहाँ दिया भी है वहाँ भी इस दूसरे पक्ष पर ही बल दिया है और उसके 'माधवी' 'मनोरमा' तथा 'विद्यावती' के परिमार्जित उपयोगी एवं मानव-ग्राह्य रूप को ही ग्रहण किया है। इस दृष्टि से उन्हें समय से थोड़ा आगे भी निकल कर सोचना पड़ा है यह और बात है उन लोगों के लिए, जो प्रेमचन्द को स्रष्टा मानते हुए भी यथार्थ जीवन द्रष्टा नहीं मानते।

दलित संघर्षरत नारी-रूप का चित्रण प्रेमचन्द की कृतियों में सर्वाधिक सहानुभूतिपूर्वक हुआ है। इस नारी-समाज के अन्तर्गत ग़रीब कृषक ग़रीब मालिक-किसान आयहीन दूकानदार एवं सेवक-वर्ग (अस्पृश्य) सम्बन्धी उस स्त्री-रूप की स्थिति थी जहाँ नारी खेतों में शारीरिक श्रम करती थी घर में चक्की चलाती थी दूकान पर बैठने में भी हर्ज नहीं समझती थी तथा धनी परिवारों की सेवा भी विविध प्रकार से करती थी। इस नारी का संघर्ष बहुत कुछ बाह्य था और उसकी निजी समस्याएँ पुरुष-समाज से प्रायः एक-रूप होने तथा प्रत्येक दृष्टि से स्वयं पुरुष की सम्पूर्ति होने के कारण उसकी निजी आन्तरिक समस्याओं के उठने का अवकाश ही नहीं था। बाह्य अशान्ति ही कृषक-दम्पती को दम नहीं लेने देती थी। रोटी के लाले पड़े हुए थे और तिस पर राज्य-कर्मचारियों की आय-दिन की बेगारें उसके जीवन को निराशाच्छन्न किये दे रही थीं। पुरुष अकेला जब आजीविका के उपार्जन में समर्थ नहीं होता तब नारी को शारीरिक श्रम के प्रत्येक क्षेत्र में उसका हाथ बँटाना पड़ता था। रोटी बनाकर हल के पीछे ले जाने मचान पर बैठ टूटी हुई फसल को बीनने चक्की पीसने पशुओं की देख-रेख करने उपले पाथने और कूड़ा-कर्कट उठाने तथा इस प्रकार पहर रात तक व्यस्त रहने के उपरान्त बच्चे पैदा करने के अस्वस्थ मनोरंजन ने इस नारी के अन्तर्बाह्य पर वेदना की गहन छाया डाल रखी थी और वह अनजाने में ही भाग्य को स्वीकार करती हुई यदा कदा कीर्तन भजन करती हुई भगवान् के मन्दिरों में अन्याय को देखती हुई भी जीवन से जूझने का प्रयत्न कर रही थी। वह पूर्ण-रूपेण पतिपरायणा थी

पुनर्लग्नसमा थी किन्तु धार्मिक दृष्टि से सम्पन्न अथवा ऊँचे वर्ग के लोहुपों की दृष्टि उस पर भी गड़ जाती थी और इस प्रकार की अनेक फिसलनों में से होकर उसे जीवन-यापन करना पड़ रहा था। तिस पर भी पति की संशक दृष्टियों एवं जीवन की सभी विभीषिकाओं से उसने अनजाने में ही बलात् *समझौता कर रखा था। ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं* जबकि विधवा भाभी को देवर को पति मानना पड़ता था, अछूती बहन को प्रौढ़ कुमारी से बाँध दिया जाता था और कई पुत्रों वाली माता को पुत्रहीना के संकटों का सामना करना पड़ता था। पुरुष की इच्छानुसार नारी बिक भी जाया करती थी। वह वह नहीं थी किन्तु परिस्थितियों के विभिन्न पाशों में कस कर जकड़ी हुई थी। शिक्षा प्राप्त करने की सामर्थ्य वह भी रखती थी किन्तु पेट की समस्या अभी हल नहीं हुई थी। यद्यपि स्त्रियाँ उसकी भी जागृत रहना चाहती थी किन्तु रहन सहन की धार्मिक रूढ़ियों में उसे अत्यन्त सीमित कर रखा था। और इस प्रकार उसने अपने बारे में जैसे सोचना ही छोड़ दिया था। अपनी 'पहली रचना' में ही प्रेमचन्द नारी के इस रूप की ओर आकृष्ट होकर अपने मामा तक का उपहास कर चुके थे। *यही नहीं अपनी सम्पूर्ण रचनाओं में* उन्होंने नारी के इस नागरिक चेतना से विच्छिन्न तर्कहीन आत्मबाधात् एवं स्वत्वपूर्ण रूप का सर्वाधिक चित्रण करते हुए 'शान्ता' 'सुभागी' 'विलासी' 'सलोनी' तथा 'कुनिया' से सहानुभूति बरतते हुए 'मुन्नी' एवं 'धनिया' के अमर रूप की प्रतिष्ठा की है।

नागरिक नारी रूप

प्रेमचन्द-युग भारत में नगरों एवं नागरिक सभ्यता के विकास का युग था। अंगरेज शासक इस ओर विशेष ध्यान दे रहे थे। मार्क्स के इस कथन का कि *"इग्लैण्ड को भारतवर्ष में दुहरे उद्देश्य को पूरा करना है एक संहारात्मक दूसरा निर्माणात्मक"*—यही अर्थ था कि ग्राम-व्यवस्था आदि के पुरातन सामाजिक ढाँचे के संहारोपरान्त अंगरेजों को भारत में "पश्चिमी समाज के भौतिक आधार की स्थापना" करनी थी। यह वह युग था जब वैज्ञानिक यन्त्रों आदि के आगमन-स्वरूप भारत में पूँजीवादी व्यवस्था प्रेमचन्द के शब्दों में 'महाजनी सभ्यता' का पुनर्गमन हो रहा था। पूँजीवाद के विरुद्ध साम्यवाद भी जड़ें पकड़ रहा था और इन दोनों के बीच मध्यवर्ग का स्वरूप स्थिर हो रहा था। दूसरी ओर सत्य एवं अहिंसा के आध्यात्मिक मानवतावादी दृष्टिकोण

को लिये हुए गांधीवाद 'ट्रस्टीशिप' के सिद्धान्त पर बल दे रहा था। इस प्रकार से स्तर की दृष्टि से नागरिक क्षेत्र में पूँजीपति, डाक्टर, वकील आदि पेशेवर लोग, मध्यवर्गीय सौदागर तथा दुकानदार, सरकारी कर्मचारी तथा मजदूर वर्ग आदि के प्रमुख स्तर स्थिर हो चुके थे।

यों तो पूँजीपति-परिवार, मध्यवर्गीय परिवार एवं मजदूर-परिवार में नारी की सामाजिक स्थिति पृथक्-पृथक् थी और उसे उसी प्रकार से देखा जा सकता है जैसा कि हम ग्रामीण नारी-रूप को देख चुके हैं अर्थात् मजदूर-वर्ग तथा मध्य वर्ग के उत्तरार्द्ध के स्तर को पतित नारी-रूप के अन्तर्गत तथा शेष को बाह्य संघर्ष-विरहित नारी-रूप के अन्तर्गत रख सकते हैं, किन्तु यहाँ नागरिक नारी रूप से अभिप्राय प्रमुखतः उस नारी-रूप से है जो प्रायः नागरिक क्षेत्र में ही एक नूतन चेतना को पकड़ रहा था और जिसके कारण समाज में उसकी स्वतन्त्र, उत्कृष्ट तथा अनिवार्य सत्ता की स्थापना हो रही थी।

प्रेमचन्द-काल में सामाजिक सुधार-सम्बन्धी सभी आन्दोलन स्त्री-सुधार पर विशेष बल दे रहे थे। पर्दा प्रथा-निवारण, बाल-विवाह को हतोत्साहित करने, विधवा-विवाह को उत्साहित करने तथा नारी को वैदिक आध्यात्मिकता के आदर्शों की ओर उन्मुख करने में आर्यसमाज विशेष रूप से प्रयत्नशील था। बीस वर्ष के नवयुवक प्रेमचन्द ने भी 'विधवा-विवाह संस्था' तथा 'अखिल भारतीय स्त्री-सभा' के विषय में सुना होगा और सन् १८९९ में धोंडो केशव कर्वे द्वारा पूना में स्थापित 'हिन्दू विधवा गृह' भी उनकी दृष्टि से ओझल नहीं रहा होगा। हिन्दू-परम्पराओं के विरुद्ध कर्वेजी ने एक विधवा ब्राह्मणी से विवाह किया था। स्वयं प्रेमचन्द ने भी विधवा शिवरानीदेवी का पाणिग्रहण किया था और इस प्रकार स्त्री-सुधार-सम्बन्धी आन्दोलन में सक्रिय योगदान किया था।

बाल-विवाह, देवदासी तथा सती आदि कुप्रथाओं को हतोत्साहित करने में सुधारक ही नहीं अपितु राज्य-सत्ता भी ध्यान दे रही थी। १९२९ का 'शारदा चाइल्ड मैरिज बिल' इसी का परिणाम था जिसके फलस्वरूप किसी भी लड़की का १४ वर्ष की आयु से पूर्व का विवाह अवैध घोषित किया गया था। १९२५ में डा० मथुलक्ष्मी रेड्डी आदि के भगीरथ प्रयत्न के फलस्वरूप पीनल कोड के वे नियम जो नाबालिग व्यवसाय को अपराध निश्चित करते हैं देवदासियों पर भी लागू किये गए[1]। परिणामस्वरूप इस कुप्रथा का अन्त हो गया। इस

[1] आधुनिक हिन्दी-काव्य में नारी-भावना, डा० शैलकुमारी, पृ० १८-१९

प्रसंग में इससे पूर्व की राजा राममोहन राय की सहायता से लार्ड विलियम बैंटिक द्वारा की गई सती प्रथा उन्मूलन एवं राजस्थान में बालिका-वध का निवारण करने वाली सुधार-व्यवस्था भी उल्लेखनीय है।

इस युग में स्त्री-शिक्षा की ओर भी विशेष ध्यान दिया जा रहा था। स्वामी विवेकानन्द की सबसे बड़ी सुधार-धारणा यही थी कि अशिक्षित समाज में कोई भी समाज-सुधार सम्भव नहीं हो सकता। 'कहाँ हैं वे लोग जो सुधार चाहते हैं? वह कहा करते थे "पहले उन्हें तैयार करो ... समाज-सुधार के लिए प्रथम कर्तव्य है लोगों को शिक्षित करना और जब तक यह कार्य सम्पन्न नहीं होता तब तक प्रतीक्षा करनी ही पड़ेगी।"[1] ब्रह्म-समाज भी वैसे तो इस तथ्य को समझ रहा था किन्तु स्वामी विवेकानन्द की यह विशेषता थी कि वह आमूल संस्कार एवं सुधार में विश्वास रखते थे और विधवा-विवाह आदि उनकी दृष्टि में एकांगी सुधार थे। 'यहाँ (भारत) की भूमि विधवाओं के आँसुओं से कभी-कभी तर होती है तो पाश्चात्य देशों का वायुमण्डल अविवाहित स्त्रियों की आहों से भरा रहता है। और फिर "विधवा-विवाह की समस्या से ७० प्रतिशत भारतीय नारियों का कोई सम्बन्ध नहीं है ... इस प्रकार के सब आन्दोलनों का सम्बन्ध भारत के केवल उच्च वर्गों से ही रहा है जो जन-साधारण के बल पर स्वयं शिक्षित हुए हैं। इन लोगों ने अपने-अपने घरों को साफ करने एवं अंग्रेजों के सम्मुख अपने को सुन्दर दिखाने में कोई कसर नहीं रखी। पर यह तो संस्कार नहीं कहा जा सकता ... संस्कार करने में हमें चीज के भीतर उसकी जड़ तक पहुँचना होता है। इसी को मैं आमूल संस्कार कहता हूँ।[2] इस प्रकार स्वामीजी भारतीय आदर्शों में पली हुई भारतीय शिक्षित नारी के आदर्श रूप की सराहना करते थे और पाश्चात्य रंग में उसका रँगा जाना समाज के लिए घातक समझते थे। संक्षेपतः समाज सुधारकों ने स्त्री-शिक्षा की अत्यन्त आवश्यकता अनुभव की जिसके परिणाम स्वरूप पूना में 'महिला विद्यालय' प्रयाग में 'कन्या-पाठशाला' तथा मद्रास, कलकत्ता, बनारस और दिल्ली आदि प्रसिद्ध नगरों में विधवाओं के शिक्षा-केन्द्रों तथा बालिकाओं के लिए विद्यापीठों की स्थापना द्रुत गति से होने लगी। इनमें बहुत-से शिक्षा-केन्द्र ऐसे भी थे जिनमें परीक्षा की दृष्टि से ही नहीं अपितु नारी को सुगृहिणी बनाने की शिक्षा भी दी जाती थी।

---

१ मेरी समर-नीति, स्वामी विवेकानन्द पृ० ११

२ मेरी समर-नीति, स्वामी विवेकानन्द पृ० १९

समाज-सुधार आन्दोलन नारी के समाज-सेविका-रूप को भी प्रश्रित कर रहे थे। पहले-पहल इसमें विधवाओं की ही संख्या अधिक होती थी किन्तु बाद में इसका क्षेत्र और भी विस्तृत होता जा रहा था। १८८९ में स्थापित 'पूना सेवा-सदन' के संस्थापक गोपालकृष्ण देवधर ने लिखा था 'जब मैं संयुक्त प्रान्त में अकाल-उद्धार कार्य में लगा हुआ था मेरी धारणा बनने लगी कि राष्ट्रीय उन्नति के विविध क्षेत्रों में भारत को पुरुषों के ही समान प्रशिक्षित स्त्री कार्यकर्ताओं की भी आवश्यकता है। पूना वापस आने पर मैंने कई बार मित्रों—स्त्रियों तथा पुरुषों—की गोष्ठियाँ कीं और इसका फल हुआ भावी दर्शन लिए भावों को सामाजिक कार्य-कर्त्रियों के रूप में दीक्षित करने का प्रण।'[1] महात्मा गांधी ने भी नारी के इसी रूप का अपने आश्रमों में संचार किया था। हिन्दू कुलीना और मूढ़ा दोनों उनके लिए समान थीं और उनकी प्रबल धारणा थी कि परिवार में नारी के मातृ-रूप का प्राधान्य होने पर समाज भी उससे कुछ अपेक्षा रखता है। वह अबला नहीं है और कोरी भावुकता का परिणाम भी नहीं। मैथिलीशरण गुप्त को लिखे गए 'साकेत'-विषयक विचार उनकी इसी धारणा को परिपुष्टि करते हैं।

प्रेमचन्द-युग में नागरिक नारी का एक अन्य प्रबल रूप भी विकसित हो रहा था। वह था राष्ट्रवादी रूप। नारी का यह रूप सुधारगत नारी का ही विकसित रूप था जिसमें उसकी त्याग एवं उत्साह की वृत्तियों को प्रेरणा दी गई थी और वह पुरुष के ही समान विदेशी यातनाओं को सहती हुई स्वतन्त्रता संग्राम में सहयोग दे रही थी। यह वह युग था जिसमें महारानी विक्टोरिया की मृत्यु के उपरान्त महात्मा गांधी अफ्रीका के प्रश्न को लेकर राजनैतिक क्षेत्र में अहिंसा के शस्त्र सहित उतर पड़े थे। बंग-भंग और उसके परिणाम स्वरूप 'मिण्टो मार्ले रिफार्म्स' हो चुके थे। हिन्दू-मुस्लिम एकता में वैमनस्य का विष बोया जा रहा था। लार्ड हार्डिंग पर बम फेंका जा चुका था। चम्पारन में नील की खेती करने वाले कृषकों पर किये गए अत्याचार महात्मा गांधी को आघात दे रहे थे। १९१८ के महायुद्ध की समाप्ति पर रौलट ऐक्ट लागू हो गया था। सत्याग्रह जोर पर था। जलियाँवाला बाग का भीषण हत्याकाण्ड मृदुलता को पार कर चुका था। कांग्रेस जोर पकड़ रही थी। होमरूल की माँग की जा रही थी। योरप में महायुद्ध हो रहा था। पहला विश्वयुद्ध हो चुका था।

---

१ आधुनिक हिन्दी-काव्य में नारी-भावना, डा० शैलकुमारी पृ० ५
('न इंडिया' ४ मार्च १९१९ से उद्धृत)

और द्वितीय की तैयारी हो रही थी, डांडी-यात्रा हो चुकी थी, हिन्दू-मुस्लिम दंगे हो रहे थे, इंगलैण्ड में राउण्ड-टेबल कान्फ्रेंस हो चुकी थी, भारत में गुप्त रूपेण हिंसात्मक कार्य हो रहे थे, गांधी-इर्विन समझौते के उपरान्त महात्मा गांधी इंग्लैंड से लौटने पर अनशन रख चुके थे और १९३६ में कांग्रेस मंत्रि मण्डल की स्थापना हो रही थी। देश की इस हलचलपूर्ण अवस्था में नारी अविचलित न रह सकी और अनायास ही उसने घर की चारदीवारी को पार कर राष्ट्रीय आन्दोलनों में भाग लेना आरम्भ कर दिया। वह कांग्रेस की सदस्य बनने लगी, चन्दे एकत्रित करने लगी, गांधी-आश्रमों व चर्खों की ओर लौटने लगी, सत्याग्रह में भाग लेने लगी, विदेशी माल बेचने वाली तथा शराब की दुकानों के आगे पिकेटिंग करने लगी और कहीं-कहीं क्रान्तिकारी कर्म-दल में भी दीखने लगी। जेल जाना ही नहीं, देश के लिए प्रत्येक त्याग करने पर वह तत्पर हो रही थी, यहाँ तक कि प्रायः राज्य-सत्ता के अन्तर्गत काम करने वाले पति को सुमार्ग पर लाने की असमर्थता में उसके प्रति उपेक्षा तक के दृष्टिकोण को अपना रही थी और पत्नी से अधिक माँ तथा बहिन का कर्त्तव्य निभा रही थी। इस सब के परिणामस्वरूप उसकी राजनैतिक अधिकार-सम्बन्धी माँगें भी स्वाभाविक ही थीं। सत्यवती देवी, सरलादेवी चौधरानी, हंसा मेहता, रमा बाई रानाडे, अरुणा आसफअली, सरोजिनी नायडू, श्रीमती ऐनी बीसेंट तथा विजयालक्ष्मी पण्डित आदि के नाम इस सन्दर्भ में उल्लेखनीय हैं।

नारी के इस नवीन रूप की निर्मिति में भारतीय साहित्य के योगदान को भी विस्मृत नहीं किया जा सकता। यह प्रभाव परोक्ष था और साथ ही चिर स्थायी भी। 'भारत भारती' के गीत साधारण जनता में गाये जा रहे थे, शरत् तथा रवीन्द्र के अनुवाद धड़ाधड़ हो रहे थे और नारी के गम्भीर रूप की प्रतिष्ठा हो रही थी। बिस्मिल तथा 'इक़बाल' उर्दू में, 'कन्नुकुरी वीरेश लिंगम्' तथा 'श्री श्री' आदि तेलगु में, 'वल्लूर' और 'वल्लाथोल' आदि मलयालम में तथा भाई वीरसिंह आदि पंजाबी में भारत का गौरव-गान कर रहे थे। साथ ही हिन्दी के क्षेत्र में 'श्रद्धा', 'यशोधरा' तथा 'मृणाल बुआ' आदि चरित्रों की रचना नारी के पूर्णत्व एवं विकास रूप की स्थापना कर रही थी, रीतिकालीन मांसलता छायावादी जिज्ञासा में परिणत हो रही थी। फलतः पुरुष-समाज धीरे-धीरे नारी के प्रेरक रूप को समझ रहा था, देश के प्रति उसके कर्त्तव्य को सहर्ष ग्रहण कर रहा था और उसके प्रति अपनी अनुचित परम्पराओं की चिकित्सा करता आ रहा था।

पश्चिमी विचारों की बाढ़ एवं साहित्य के प्रभाव-स्वरूप इस युग में नारी

का एक अँगरेजी-पसन्द रूप भी नागरिक क्षेत्रों में लक्षित हो रहा था। इसमें विरोधी ईसाई मत से ईमान लाने वाले भारतीय एवं स्वतन्त्रता-विरोधी वृत्ति नव भारतीय धनाढ्य—तीन प्रकार के परिवारों की स्त्रियाँ विद्यमान थीं। यह नारी-वर्ग भारत की प्रत्येक वस्तु को नापसन्द करता हुआ भारतीय समाज एवं संस्कृति से मनोनीत विरोध मान कर चलता था। इस वर्ग की नारी के लिए बहुमूल्य भोजन भाँति भाँति के वस्त्र तथा प्रकृति के नित-नये साधन ही जीवन था। शिक्षा को भी वह विभिन्न वासनाओं की सम्पूर्ति के रूप में ही ग्रहण करती थी। सर्वथा अति सभ्य होते हुए भी यह नारी संस्कृतिहीन थी और उसके इसी रूप के विरुद्ध हमारे समाज-सुधारकों ने आवाज उठायी थी।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रेमचन्द-कालीन भारतीय समाज में अँगरेजी सभ्यता के प्रसार, विभिन्न समाज-सुधारों स्वतन्त्रता-सम्बन्धी राष्ट्रीय आन्दोलनों तथा साहित्य में नवीन लोकतान्त्रिक दृष्टिकोण के प्रसार के प्रभाव-स्वरूप नारी भावना का अभ्युत्थान हो रहा था। नागरिक क्षेत्रों में यह परिवर्तन ग्रामीण समाज की अपेक्षा शीघ्र जोर पकड़ रहा था। नागरिक नारी अपनी विकास-यात्रा पर चल रही थी और ग्रामीण नारी जिज्ञासापूर्ण दृष्टि से उसे निहार रही थी। एक तो यात्रा का पूर्ण पाथेय उसके पास नहीं था दूसरे वह भोली और सीधी-सादी थी। शायद डर रही थी कि नवीनता कहीं आदर्श हीनता का पर्याय ही न रह जाय।

५

प्रेमचन्द की नारी-भावना

'भाईजान ! सिर्फ रुपया कमाना ही आदमी का उद्देश्य नहीं है। मनुष्यत्व को *ऊपर उठाना और मनुष्य के मन में ऊँचे विचार पैदा करना भी* उसका कर्त्तव्य है। अगर यह नहीं तो आदमी और पशु दोनों बराबर हैं। और जिसके हाथ में भगवान् ने कलम और कलम में तासीर दी है उसका कर्त्तव्य तो और भी बढ़ जाता है।'[1] निस्संदेह प्रेमचन्द के पास कलम थी जिसमें उससे भी अधिक तासीर विद्यमान थी—और पथ-प्रदर्शन के प्रति उनके उक्त कथन की धारणा से ही यह स्वयंसिद्ध हो सकता है कि उनके साहित्य की नींव ही उनके पूर्ववर्ती मध्ययुगीन तथा उसके प्रभावस्वरूप आगत साहित्य के अति-काल्पनिक आधार तथा निपट मनोरंजनात्मक उद्देश्य दोनों के विपरीत उपयोगिता एवं लोक-मंगल की भावना से भरी गई है। (प्रेमचन्द की नारी-भावना की भी सर्वप्रमुख विशेषता यही है कि उसका चित्रण रमणी के शृंगारजन्य विलासात्मक आकर्षण के हेतु नहीं अपितु 'मनुष्यत्व को ऊँचा उठाने और मनुष्य के मन में ऊँचे विचार पैदा करने' के [illegible] हुआ है।) समय की माँग साहित्यिक प्रगतिशीलता समाजोपयोगी भावना तथा निजी व्यक्तित्व की संघर्षमयी गरिमा के फलस्वरूप प्रेमचन्द की नारी भावना ने हिन्दी कथा-साहित्य में एक युगान्तर प्रस्तुत किया है। अतीत की ओर दृष्टिपात करते हुए प्रेमचन्द सोचते हैं 'जब तक साहित्य का काम केवल मनबहलाव का सामान जुटाना केवल लोरियाँ गा-गा कर सुलाना केवल आँसू बहा कर जी हल्का करना था तबतक उसके लिए कर्म की आवश्यकता न थी। वह एक दीवाना था जिसका गम दूसरे खाते थे मगर हम साहित्य को केवल मनोरंजन और विलासिता की सामग्री नहीं समझते। हमारी कसौटी पर वही साहित्य खरा उतरेगा जिसमें उच्च चिन्तन हो स्वाधीनता का भाव हो सौंदर्य का सार हो सृजन की आत्मा हो जीवन की ऊँचाइयों का प्रकाश हो जो हममें गति संघर्ष और बेचैनी पैदा करे सुलाये नहीं क्योंकि अब और ज्यादा सोना मृत्यु का लक्षण

---

१ प्रेमचन्द [illegible] पृ० ८

है।[1] इसी भावना के अनुरूप उन्होंने अपने नारी-पात्रों का सृजन किया है और ऐसी भावुक अनुप्रेरणा को अपनाने के लिए जिस आत्मस्वातन्त्र्य की जिस निःस्वार्थ जीवन की ओर जिस प्राणवत्ता की आवश्यकता होती है वह प्रेमचन्द के जीवन में शत-प्रतिशत विद्यमान थी।

एक स्थान पर प्रेमचन्द ने पुरुष को 'नारी की प्रेम-शक्ति का विकास मात्र'[2] माना है। इस भावना की आध्यात्मिकता में न वह उलझे हैं और न कदाचित् सुलझे ही हैं किन्तु प्रेमरूपा त्यागमयी नारी को उन्होंने पुरुष से कहीं अधिक महती अवश्य माना है। इस सम्बन्ध में पहली कसौटी उन्होंने वासना और लालसा की मानी है। उनका विचार है कि 'नारी चरित्र में अवस्था के साथ मातृत्व का भाव दृढ़ होता जाता है। यहाँ तक कि एक समय ऐसा आता है जब नारी की दृष्टि में युवकमात्र पुत्र-तुल्य हो जाते हैं। उसके मन में विषय वासना का लेश भी नहीं रहता। किन्तु पुरुषों में वह अवस्था कभी नहीं आती उनकी कामेन्द्रियाँ क्रियाहीन भले ही हो जायें पर विषयवासना सम्भवतः और भी बलवती हो जाती है। पुरुष वासनाओं से कभी मुक्त नहीं हो पाता बल्कि ज्यों-ज्यों अवस्था ढलती है त्यों-त्यों ग्रीष्मऋतु के अन्तिम काल की भाँति उसकी वासना की गर्मी भी प्रचण्ड होती जाती है। वह तृप्ति के लिए नीच साधनों का सहारा लेने को भी प्रस्तुत हो जाता है।'[3] 'प्रेमाश्रम' का ज्ञानप्रकाश 'निर्मला' का तोताराम और 'भूत' कहानी के 'पंडितजी तथा 'गोदान' के मि खन्ना और भोला प्रेमचन्द के इस कथन की परिपुष्टि करते हैं। नारी पुरुष से बड़ी है— प्रेमचन्द के अनुसार इसकी दूसरी कसौटी यह है कि नारी जितनी ही त्यागमयी है पुरुष उतना ही संशयावलम्बी एवं स्वार्थसाधक है। प्रेमा ने दाननाथ के लिए क्या नहीं किया 'पर दाननाथ को अब भी यही शंका बनी हुई थी कि प्रेमा को अमृतराय से प्रेम है। प्रेमा चाहे दाननाथ के लिए प्राण तक निकाल कर रख दे पर इस शंका को उनके हृदय से नहीं निकाल सकती।'[4] मनोरमा साक्षात् सहनशीलता है लेकिन अनेक-पत्नीक राजा साहब के मोह के कारण ही एक दिन वह 'दूध की मक्खी'[5] बन जाती है। गोविन्द देवी ने पातिव्रत की जिस

---

१ साहित्य का उद्देश्य प्रेमचन्द— प्रगतिशील लेखक संघ में भाषण से
२ कायाकल्प पृ २१
३ 'भूत' कहानी, मानसरोवर भाग ४ पृ १०३
४ प्रतिज्ञा पृ ८८
५ कायाकल्प पृ १६४

सीमा का स्पर्श नहीं किया किन्तु पति द्वारा उसे निरन्तर यातनाएँ ही नसीब होती हैं। सुभागी ने अपने सूरदास को सदा भाई की निगाह से देखा हो, भैरों निरन्तर अविश्वास का ही आसरा लेता है। अनचाहे मनीराम से बाँधी गई ममा को तो उसके पातिव्रत से भी गिराने के यत्न किये जाते हैं। निर्मला के नासूर पर बार-बार तोताराम के संदेह-नमक की छिड़कन होती है। कुमानी पति के कारण ही विधा विषपान करती है। रतन क्यों वकील साहब से अधिक महानुभाव दीखती है, जालपा की चारित्रिक शक्ति रमा को क्यों आवृत कर लेती है, 'प्रेम की वेदी' की उमा और जैनी क्यों योगराज से कहीं अच्छी लगती हैं, राजेश्वरी के बिना 'संग्राम' क्यों श्मशान दीखता है?—इसीलिए कि इन चरित्रों का निर्माण नारी की पुरुष से अधिक महत्ता के प्रतिपादन के हेतु हुआ है। 'निर्वासन' कहानी की मर्यादा, 'पूत' की बिम्बेश्वरी, 'सोहाग के शव' की सुभद्रा, 'लांछन' की देवी, 'स्त्री और पुरुष' की माया, 'रानी सारन्धा' की सारन्धा, 'दिल की रानी' की हमीदा, 'मर्यादा की वेदी' की प्रेमा तथा 'बेटों वाली विधवा' की विधवा आदि अनेक नारी-पात्र पुरुष से महान् इसलिए लगते हैं कि "पुरुष में थोड़ी पशुता भी होती है जिसे वह इरादा करने पर भी हटा नहीं सकता। वह पशुता उसे पुरुष बनाती है। विकास के क्रम में वह स्त्री से पीछे है। जिस दिन वह पूर्ण विकास को पहुँचेगा वह भी स्त्री हो जायेगा। वात्सल्य, स्नेह, कोमलता, दया इन्हीं आधारों पर सृष्टि थमी हुई है और ये स्त्रियों के गुण हैं।"[1] फिर भी "स्त्रियों को संसार अबला कहता है—कितनी बड़ी मूर्खता है! मनुष्य जिस वस्तु को प्राणों से प्रिय समझता है वह स्त्री की मुट्ठी में है।"[2] इसीलिए जिस मालती को मेहता से ही प्रेरणा मिलती है उसी को एक दिन प्रेमचन्द मेहता से भी बड़ी बना देते हैं। 'गोदान' के वीमेन्स लीग में दिया गया मेहता का तो सम्पूर्ण भाषण ही नारी की अपेक्षाकृत महत्ता के घोषणार्थ नियोजित किया गया है। प्रेमचन्द के अनुसार पुरुष से नारी इसलिए भी श्रेष्ठ है कि वह अहिंसा और शान्ति की प्रतिमूर्ति है किन्तु आत्मनिष्ठता तथा वैज्ञानिकता से अनुप्राणित होते हुए भी "पुरुषों की रची हुई इस संस्कृति में शान्ति कहाँ है? सहयोग कहाँ है?"[3] मेहता के शब्दों में प्रेमचन्द ही बोलते हैं "मैं प्राणियों के विकास में स्त्री के पद को पुरुषों के पद से श्रेष्ठ समझता हूँ

१ कर्मभूमि पृ २९२
२ ,, पृ २०१
३ गोदान पृ १६९

उसी तरह जैसे प्रेम त्याग और श्रद्धा को हिंसा संग्राम और कलह से श्रेष्ठ समझता है।१ स्त्री पुरुष से उतनी ही श्रेष्ठ है जितना प्रकाश अँधेरे से।"२ किन्तु यह स्वीकार करते हुए भी जब स्त्री-पुरुष के असामञ्जस्य की समस्या उठती है तो प्रेमचन्द को निष्कपट इस धारणा को प्रश्रय देना ही पड़ता है कि नारी और पुरुष दोनों को भूल जाना चाहिए कि एक के बिना दूसरे का अस्तित्व सम्भव है। पुरुष का सम्पर्क पाकर ही नारी ऊपर उठती है। नारी में सेवा और संयम और कर्तव्य वही पैदा कर सकता है। अगर उसमें इन बातों का अभाव है तो नारी में भी अभाव रहेगा।३ अतः प्रेमचन्द के अनुसार मर्म यही है कि दोनों ही एक-दूसरे को अपने से महान् समझें। पुरुष-स्त्री का स्वामी है तो स्त्री-पुरुष की स्वामिनी है—ये शब्द प्रेमचन्द-साहित्य में अनेक स्थलों पर मिलते हैं। बाइबिल में कथन है—"तुम मेरी सराहना करो मैं तुम्हें सराहनीय समझूँ" जीवन ऐसे ही अग्रसर होता है। उसी प्रकार नैतिक एवं औपचारिक सामंजस्य भी प्रेमचन्द के अनुसार उत्कृष्ट होता है क्योंकि वह उस सर्वोत्कृष्ट आत्मिक सामञ्जस्य तक ले जाता है जो भारतीय संस्कृति की 'अर्धनारीश्वर' की कल्पना में साकार हो चुका है और 'विमा' कहानी 'रंगभूमि' की सोफ़िया एवं 'आत्म-संगीत' कहानी में जिसके तीनों सोपान क्रमशः स्पष्ट होते गए हैं।

प्रेमचन्द की नारी-भावना का उच्चतम आदर्श है "एक ही स्थान पर त्याग सेवा और पतिव्रता का केन्द्रित होना। त्याग बिना फल की आशा के हो सेवा सदैव बिना असंतोष प्रकट किये हो और पतिव्रता सीज़र की पत्नी सी हो जिसके लिए पछताने की आवश्यकता न पड़े।"४ उनके अनुसार तो नारी का कर्तव्य है देना लेना नहीं। उसके हृदय का सम्पूर्ण वात्सल्य सम्पूर्ण विश्वास और श्रद्धा सम्पूर्ण करुणा एवं सहनशीलता इसी उद्गम की ओर प्रवाहित होते हैं। 'वरदान' की माधवी हो या 'प्रेमाश्रम' की गायत्री 'रंगभूमि' की सोफ़िया इन्दु हो या जाह्नवी 'कायाकल्प' की मनोरमा हो या 'सेवासदन' की सुमन 'गबन' की जालपा हो या 'कर्मभूमि' की सुखदा 'गोदान' की गोबिन्दी धनिया हो या मालती—नारी में इस आदर्श की स्थापना के बिना प्रेमचन्द रह ही नहीं

१ गोदान पृ० ९६
२ ,, पृ० १६२
३ ,, पृ० १६६
४ डा० इन्द्रनाथ मदान को लिखित पत्र में।

सकते' यहाँ तक कि इसके लिए उन्होंने कई बार मनोविज्ञान के औचित्य को छोड़ना और आलोचकों के आक्षेप-संकायों को अवसर देना भी स्वीकार किया है। उनके अनुसार प्रेम का स्थायित्व 'सोफी' जैसी पवित्रता में होता है पवित्रता का व्यापक रूप मनोरमा-जैसे त्याग में पनपता है और उसी त्याग का साकारात्मक रूप 'सुखदा' की ऐसी सेवा-भावना में चरम सीमा को पहुँचता है। त्याग का सुन्दरतम रूप जीवन से निवृत्ति नहीं अपितु सेवा है। 'रमणी का हृदय सेवा के सूक्ष्म परमाणुओं से बना होता है उसका प्रेम भी सेवा है उसका अधिकार भी सेवा है यहाँ तक कि उसका क्रोध भी सेवा है।[1] यही कारण है कि प्रेमचन्द की 'विद्या' "एक सुशीला धर्मनिष्ठा सन्तोष और त्याग के आदर्शों का पालन करने वाली महिला है। यद्यपि पति की स्वार्थभक्ति से उसे घृणा है पर इस भाव को वह अपनी पति-सेवा में बाधक नहीं होने देती।"[2] प्रेमशंकर के सम्मुख श्रद्धा "एक देवी के रूप में खड़ी मालूम होती है उसकी मुखश्री एक विलक्षण ज्योति से प्रदीप्त है त्याग और अनुराग की विशाल मूर्ति है जिसके कोमल नेत्रों में भक्ति और प्रेम की किरणें प्रस्फुटित हो रही हैं।[3] 'मालती' का जीवन भी सँभलने पर 'त्याग और पश्चात्ताप पर समर्पण' होता है। सुमन को भी यही उपदेश मिलता है "अब तक तुम अपने लिए जीती थी अब दूसरों के लिए जियो।[4] आभूषण-प्रिय 'जालपा' "विलासिनी-रूप में केवल प्रेम के आवरण के दर्शन कर सकी परन्तु त्यागिनी बन कर वह उसका असली रूप देखती है।[5] यही कारण है कि मताधिकार आदि नारी के लौकिक अधिकारों की समस्या प्रेमचन्द को व्यर्थ ही लगती है। 'संसार में सबसे बड़े अधिकार सेवा और त्याग से मिलते हैं और वे नारी जाति को मिले हुए हैं।[6] मनुष्य का "सारा अध्यात्म और योग एक तरफ और नारियों का त्याग एक तरफ होता है।"[7] परन्तु चित्र का दूसरा पक्ष भी प्रेमचन्द की दृष्टि से ओझल नहीं है। उन्हें ज्ञात है कि "त्यागी दो प्रकार के होते हैं। एक वे जो त्याग में आनन्द मानते हैं, जिनकी आत्मा को त्याग में आनन्द और सन्तोष और पूर्णता का अनुभव होता है जिनके त्याग में उदारता और सौजन्य है। दूसरे, वे जो दिल जले त्यागी होते हैं जिनका त्याग अपनी परिस्थितियों से विद्रोह-मात्र है जो अपने न्यायपथ पर चलने का तावान संसार से लेते हैं जो खुद जलते हैं इसलिए दूसरों

---

१ कायाकल्प पृ० २२१ ४ सेवासदन पृ ५४ ७. गोदान पृ २६१

२. प्रेमाश्रम पृ ३६ ५ गबन पृ ६१

३ ,, पृ १९९ ६. गोदान पृ २६१

को भी बताते है ।"[१] अपनी नारी-भावना में प्रेमचन्द ने प्रथम प्रकार के त्याग
को ही महत्त्व दिया है । अपने पुरुष-चित्रण में उन्होंने दूसरे त्याग का चित्रण
भी किया है अमरकान्त और विनय उनमें उदाहरण-स्वरूप लिये जा सकते है
किन्तु वहाँ भी अन्तत त्याग को उन्होंने प्रथम श्रेणी के त्याग की ओर
अग्रसर किया है । इस आदर्श भावना म विश्वास के परिणामस्वरूप ही तो
उन्होंने नारी के उस आदर्श रूप की कल्पना भी कर ली है जो न केवल समय से
बहुत आगे है अपितु समाजानुपमय भी है । वहाँ पहुँच कर वह कहते है 'इस
योगिनी को किसी ने हँसते या बोलते नही देखा उसे न किसी बात का हर्ष था
न किसी बात का विषाद । जिस मन में कामनाएँ न हों वह क्यो हँसे और क्यों
रोये । उसका मुखमण्डल आनन्द की मूर्ति था' उस पर दृष्टि पड़ते ही दर्शकों के
नेत्र पवित्र आनन्द से परिपूर्ण हो जाते थे । २

स्त्री-पुरुष के प्रेम का अत्यन्त सन्तुलित रूप प्रेमचन्द की रचनाओं मे उप
लब्ध होता है । अन्य् ही की भाँति उनकी नारी भावना में सैक्स का प्राधान्य
नही है । नारी का रूप एवं सेक्स भी उपेक्षणीय नही है इस तथ्य की ओर
उनकी कहानी 'नया विवाह' इंगित करती है । परन्तु प्रेमचन्द यह मानते है कि
"प्रेम का अंकुर रूप में है पर उसको पल्लवित और पुष्पित करना सेवा ही का
काम है । ३ विवाह से पूर्व का प्रेम प्राय व्यक्ति-सीमित होता है और उसम
सामाजिक भावना का स्वस्थ विकार भावुकता के आवेग के कारण कम हो
किया जाता है । यही कारण है कि इस प्रेम का चित्रण प्रेमचन्द ने बहुत कम
किया है और जहाँ किया भी है वहाँ उसे समाज-सापेक्ष ही रखा है । वस्तुत
प्रेमचन्द प्रेम को धर्म स पृथक नहीं मानते । धर्म लोकमगल का वाहक होता
है और प्रेम की समाज-निरपेक्षता भी धर्मपक्ष का नाश करने म बहुधा समर्थ
नहीं होती । यदि परिस्थितिवश इस प्रेम में कोई सामाजिक भावना चाहे वह
अन्य रूढि ही क्यों न हो विरोध-स्वरूप आ उपस्थित होती है तो प्रेमचन्द
इस प्रेम में एक ऐसे दर्द की सृष्टि करते है जिससे नारी सब-कुछ सहन करती
हुई, परम्पराओं का उत्तर त्याग से देती हुई लोकसेवा अथवा जीवन की
किसी अन्य विराट् भावना की ओर उन्मुख हो जाती है । विरजन मनोरमा
प्रेमा तथा मैना का और किसी सीमा तक सोफ़ी का प्रेम इसी प्रकार का है ।

---

१ कर्मभूमि पृ १११
२. वरदान पृ १०८
३ दो सखियाँ मानसरोवर भाग ४ पृ ११२

इनका अपराध इतना ही है कि विवाह से पूर्व ही वे प्रेम कर बैठती हैं, और चूँकि यह प्रेम इनके अधरों तक नहीं आ पाता प्रेमचन्द इन्हें आदर्श की ओर मोड़ देते हैं और तब उनकी नारी को भी एक दिलासा मिल जाता है जब विवाहोपरान्त वह समझती है कि सच्ची आर्य रमणी कुल-प्रतिष्ठा पर मर मिटने वाली होती है। उसके प्रेम का अर्थ ही है पतिप्रेम। और यदि वह ऐसा नहीं समझ पाती तो त्याग एवं सेवा के मार्ग पर चलती हुई भी कल्याण को प्राप्त होती है। और इन्होंने तो समाज की दृष्टि से अपराध किया है किन्तु सुमित्रा विद्यावती निर्मला इन्दु तथा गोविन्दी ने तो यह जोखम का कार्य नहीं किया फिर भी उनका जीवन क्यों विक्षुब्ध अशान्त एवं यातनापूर्ण है? जिस वैवाहिक जीवन के द्वारा उन्हें प्रताड़नाएँ ही प्रताड़नाएँ मिलती हैं उसका उत्तरदायित्व किसके ऊपर है? प्रेमचन्द ने इस वैवाहिक समस्या पर विचार किया है और वह समझते हैं कि मूलतः सामाजिक असमानता ही इस अशान्त वस्तु एवं इन अनमेल विवाहों का कारण है और ऐसे समाज की स्त्री ही यह अनुभव करती है कि "स्त्री पुरुष की कितनी अधीन है मानो स्त्री को विधाता ने इसीलिए बनाया है कि वह पुरुषों के अधीन रहे।[2] वह बार बार सोचते हैं कि हिन्दू समाज की वैवाहिक प्रथा इतनी दूषित इतनी चिन्ताजनक इतनी भयंकर हो गई है कि कुछ समझ में नहीं आता उसका सुधार क्योंकर हो!"[3] बहुत सिर खपाने के उपरान्त 'उद्धार' कहानी में उन्होंने एक निष्कर्ष की ओर इशारा किया है। वह यह है कि वर तथा वधू के माता पिता यदि उनके पारस्परिक स्वभाव तथा सामंजस्य की ओर ध्यान न देकर उन्हें कुएँ में ढकेलते हैं तो वे "लड़की के शत्रु हैं कसाई हैं, वधिक हैं हत्यारे हैं और यदि समाज भी उन्हें दण्ड नहीं देता तो न सही वधू भी यदि स्वाभाविक संकोच-मर्यादा को विवाह से पूर्व पार नहीं कर पाती तो न सही—किन्तु भावी पति तो अपनी स्थिति स्पष्ट कर सकता है और वह उसे करनी चाहिए। इसीलिए क्षय-रोगी हजारीलाल विवाह के दिन लापता हो जाता है और अम्बा का उस 'देवता' के कारण उद्धार हो जाता है। किन्तु उच्च मानवीय मूल्यों पर आधारित होने पर भी आज की सामाजिक दशा में यह हल कोई हल नहीं है। समाज में क्षयरोगी ही नहीं धन-लिप्सा के रोगी रूप-मोह

१ प्रतिज्ञा पृ ४२

२ नैराश्य लीला मानसरोवर भाग ३ पृ ६४

३ उद्धार मानसरोवर भाग ३ पृ १८

के रोगी शारीरिक व्यापार के रोगी तथाकथित मान-मर्यादा के रोगी तथा मानसिक दौर्बल्य के रोगी भी होते हैं और यह भी निश्चित है कि ये रोगी देवता नहीं होते। अतः प्रेमचन्द को पुनः नारी के त्याग एवं सेवा-कर्म को निर्लिप्त भावना जगानी पड़ती है और भयंकर परिस्थितियों में भी उसके समक्ष पति भक्ति का आदर्श-मार्ग अपनाना पड़ता है। परिस्थितियों की भयंकरता को प्रेमचन्द न समझते हों ऐसी बात नहीं है। वह जो कुछ लिखते हैं अपनी आत्मा के अनुभवों के आधार पर तो लिखते ही हैं साथ ही अपने आदर्श पात्र के स्थान पर अपने इन्सानी रूप को भी रख कर परखते हैं। उन्होंने 'शिकार' 'जीवन का शाप' आदि कहानियों तथा मनोरमा एवं गोविन्दी आदि पात्रों के माध्यम से समझाया है कि नारी को धन नहीं अपितु विश्वस्त प्रेम पर आधारित सन्तोष की आवश्यकता होती है और 'शान्ति' 'घर-जमाई' 'पूस की रात' 'शिकार' आदि कहानियों में यह भावना भी अभिव्यक्त की है कि पुरुष और स्त्री एक-दूसरे के गुलाम होते हैं। साथ ही वह यह भी जानते हैं कि "स्त्री को जीवन में प्यार न मिले तो उसका अन्त हो जाना ही अच्छा है।"[1] किन्तु विवाह-सम्बन्ध में फिर भी वह नारी को यही सम्मानयुक्त उपदेश देते हैं कि 'नारी! तुम नारी हो त्याग सेवा क्षमा और बलिदान की प्रतिमा हो! पुरुष से तुम बहुत बड़ी हो। देखो कोशिश करो कि तुम्हारा पति तुम्हें समझे।'[4] "अगर तुम्हें उसकी बातें पसन्द नहीं आतीं तो कोशिश करो कि पसन्द आयें। वह तुम्हारे पतिदेव हैं। तुम्हारे लिए उनकी सेवा से उत्तम और कोई पथ नहीं है।"[2] "निष्काम कर्तव्य कभी निष्फल नहीं जाता।" यदि कोई मनुष्य प्रेमचन्द की इस निष्कर्ष-भावना के आधार पर उन्हें रूढ़िवादी ठहराता है और शंका उठाता है "मुझे तो ये विचार सौ साल पिछड़े हुए मालूम होते हैं यही सेवा और कर्तव्य आदि"[3] तो प्रेमचन्द तुरन्त बोल उठते हैं "आपको ये विचार सौ साल पिछड़े हुए मालूम होते हैं। तो कृपा करके अपने ताजे विचार बतलाइये। दम्पती कैसे सुखी रह सकते हैं इसका कोई ताजा नुसखा आपके पास है?"[4] और जब उत्तर में केवल छिछियानापन मिलता है तो उन्हें पुनः कहना पड़ता है 'आपको ज्ञात नहीं कि दुनिया में ऐसी बहुत-सी बातें हैं जो

---

१ शान्ति मानसरोवर भाग १ पृ १९२
२ रंगभूमि पृ ২१६
३ गोदान पृ १९२
४ ,, पृ १९२

पुरानी कभी हो ही नहीं सकती। समाज में इस प्रकार की समस्याएँ हमेशा उठती रहती हैं और हमेशा उठती रहेंगी।

प्रेमचन्द की नारी भावना का सुन्दर एवं सरसतम रूप वहाँ उपलब्ध होता है जहाँ दाम्पत्य जीवन में नारी पुरुष की प्रेरणा, स्फूर्ति एवं पूर्ति बन कर आती है। रमावती, सुभद्रा, माया, विलासी और धनिया कुछ ऐसे ही आदर्श पात्र हैं जो पुरुष को विकास की ओर अग्रसर होने में प्रेरणा देते हैं और उससे ग्रहण भी करते हैं। एक-दूसरे के अभावों की पूर्ति एवं आदर्श समझौते को ही प्रेमचन्द आदर्श दाम्पत्य मानते हैं। सुभद्रा को पाकर पद्मसिंह को लगता है कि 'स्त्री सन्तानहीन होकर भी पुरुष के लिए शान्ति और आनन्द का अविरल स्रोत है।'[2] दाम्पत्य भाव का सुन्दरतम रूप गोदान की धनिया में परिलक्षित होता है। संघर्षों में पिसा हुआ होरी लकड़ी सँभालता हुआ कहता है, 'साठे तक पहुँचने की नौबत ही नहीं आयेगी धनिया, इससे पहले ही चल देंगे।' धनिया पश्चाताप करती है, "अच्छा रहने दो, मत अशुभ मुँह से निकालो। तुम से कोई अच्छी बात भी कहे तो लगते हो कोसने।" होरी कन्धे पर लाठी रख कर घर से निकला तो धनिया द्वार पर खड़ी उसे देर तक देखती रही। उसके इन निराशा-भरे शब्दों ने धनिया के चोट खाये हुए हृदय में आतंकमय कम्पन-सा डाल दिया था। वह जैसे अपने नारीत्व के सम्पूर्ण तप और व्रत से अपने पति को अभयदान दे रही थी। उसके अन्तःकरण से जैसे आशीर्वादों का व्यूह-सा निकल कर होरी को अपने अन्दर छिपाये लेता था। विपन्नता के इस अथाह सागर में सोहाग ही वह तृण था जिसे पकड़े हुए वह सागर को पार कर रही थी।'[3] सच ही पाठक के लिए यह सरलता एवं आदर्श अमरता का एक साथ निमन्त्रण है। किन्तु प्रेमचन्द यह भी सावधान कर देते हैं कि आदर्श दम्पती से भी शारीरिक यौन विकृतियों-सम्बन्धी सम्भावना रहती है और कभी-कभी तो पति के कारण गृहस्थी उजाड़ हो जाती है। 'प्रेम की वेदी' में उमा और योगराज के सम्बन्ध-माध्यम से उन्होंने आदर्श दम्पती को स्वस्थ कामपूर्ति का उपदेश दिया है।

प्रेमचन्द के अनुसार नारी का सतीत्व उसकी सबसे बड़ी सम्पत्ति है। स्त्री-पुरुष के दूषित सम्बन्ध को वह व्यक्ति तथा समाज दोनों के लिए हानिप्र

---

१ गोदान पृ १६२-६६

२. सेवासदन पृ १२५

३ गोदान पृ ६

समझते हैं। आत्म-सम्मान के लुट जाने पर वह सर्वस्वहीन हो जाती है और अपनी ही दृष्टि में पतिता हो जाती है। मुन्नी न्यायालय में कहती है "मैं दीन अबला! मुझे इतना याद है कि कई महीने पहले मेरा सर्वस्व लूट लिया गया और उसके लुटे जाने के बाद मेरा जीवन वृथा है। मैं उसी दिन मर चुकी।"[1] गोविन्दी (गोदान) सतीत्व-गरिमा से इतनी तनी हुई है कि सामने खड़े हुए पुरुष की ओर उसकी पलकें एक बार ही उठती हैं और फिर झुकी रहती हैं। 'बहिष्कार' कहानी की गोविन्दी का विनाश तो सतीत्व के भ्रष्ट हो जाने की कल्पना-मात्र से ही हो जाता है। ऐसे ही 'प्रेमाश्रम' की गायत्री की भी कुविचारों के ही कारण वह वस्तु लुट गई जो उसे जान से भी अधिक प्रिय थी जो उसके मान की रक्षक आत्मगौरव की पोषक धैर्य का आधार और उसके जीवन का अवलम्ब थी।[2] 'सती' कहानी की मुलिया की ओर उसके देवर ही की ललचायी दृष्टि पड़ती है तो वह कहती है 'तुम उनके पैरों की धूल के बराबर नहीं हो सकता। उनसे अच्छे और चिकने मुखड़े से कोई आदमी सुन्दर नहीं होता। मेरी आँखों में तो उनके बराबर कोई दिखायी नहीं देता।"[3] 'दो सखियों' की चन्दा भी ऐसी ही सतीत्व-मंडिता है। 'कायाकल्प' की वागीश्वरी भी अहल्या को सतीत्व का ही उपदेश देती है। मनोरमा तो मानो सतीत्व की देवी ही है। वह कहती है 'उनकी खुशी की परवा तो फिर किसकी खुशी की परवाह करेगी? जो स्त्री अपने पति से दिल में कीना रखे उसे विष खाकर प्राण दे देना चाहिए। हमारा धर्म कीना रखना नहीं क्षमा करना है।[4] प्रेमचन्द का यह आदर्श विश्वास है कि जिसे पातिव्रत जैसा साधन मिल गया है उसे और किसी साधन की क्या आवश्यकता! इसमें सुख सन्तोष और शान्ति सब-कुछ है।"[5] सच्चाई को दिखाने के लिए जिस प्रकार थोड़ी-सी बुराई दिखाना भी आवश्यक होता है उसी प्रकार 'ज्वालामुखी' तथा 'धर्म-संकट' एवं 'नया विवाह' आदि कहानियों में प्रेमचन्द ने सतीत्व भ्रष्ट होने के श्याम पक्ष पर भी विचार किया है। और सतीत्व को नारी का सर्वस्व मानते हुए भी प्रेमचन्द की यह धारणा है कि "मानव चरित्र न बिल्कुल श्यामल होता है

---

१ कर्मभूमि पृ ९

२ प्रेमाश्रम पृ ७१

३ सती, मानसरोवर भाग ४ पृ १४८

४ कायाकल्प पृ ३३९

५ सेवासदन पृष्ठ २११-२१२

न बिल्कुल श्वेत। इस में दोनों ही रंगों का विचित्र सम्मिश्रण होता है। स्थिति अनुकूल हुई तो वह ऋषि-तुल्य हो जाता है, प्रतिकूल हुई तो नराधम। वह अपनी परिस्थितियों का खिलौना-मात्र है।[1] यही कारण है कि चाहे बहुत कम सही किन्तु नारी-चरित्र की दुर्बलताओं का अंकन भी उन्होंने किया है। नारी की आभूषण-प्रियता को उन्होंने उसकी संस्कारगत दुर्बलता ठहराया है और ईर्ष्या का दुर्बल भाव तो प्रेमचन्द के प्रायः प्रत्येक नारी-पात्र में न्यूनाधिक अथवा प्रच्छन्न-अप्रच्छन्न रूप में मिल ही जाता है। यह भी नारी का श्यामल पक्ष ही है जो 'श्वेत' की ओर इंगित करने के हेतु चित्रित हुआ है। किन्तु सतीत्व के दूषित हो जाने से अधिक नारी में श्यामलता की कल्पना प्रेमचन्द नहीं कर सकते। यद्यपि यह असम्भव है तो भी परिस्थितिवश यदि नारी पतिता हो जाती है तो प्रेमचन्द पुरुष से बड़ी चौड़ी उदारता एवं त्याग की माँग करते हैं; क्योंकि एक बार ही की कलंक-कालिमा का वह (मुन्नी की भाँति) प्रायश्चित्त करवाना चाहते हैं और इसके बिना तो कोई भी सुधार सम्भव नहीं हो सकता। जब यह नारी चीत्कार करती है "मैं स्त्री हूँ अबला हूँ ओछी हूँ। तुम पुरुष हो बलवान् हो साहसी हो। मैं कभी तुम्हारी थी (तुम्हें वरीर लिया था) और यद्यपि समय मुझे तुम से अलग किये देता है किन्तु मेरी लाज तुम्हारे हाथ में है। तुम मेरी रक्षा करो।"[2]—तो प्रेमचन्द भी पिघल जाते हैं। 'राजा हरदौल' और 'परीक्षा' कहानियाँ भी प्रेमचन्द की सतीत्व भावना की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं।

सतीत्व के श्यामल पक्ष से जुड़ा हुआ वेश्या-रूप भी है। 'सेवासदन' तथा 'गबन' उपन्यासों और 'मा क्यों' 'आपबीती' तथा 'वेश्या' आदि कहानियों में प्रेमचन्द ने इस पहलू पर अत्यन्त सहानुभूतिपूर्वक विचार किया है। वस्तुतः नारी कैसी भी हो, प्रेमचन्द ने उसके प्रति कठोर होना सीखा ही नहीं। वेश्या भी इसका अपवाद नहीं है। वह यह कभी स्वीकार नहीं करते कि समाज के इस कलंक को मिटा नहीं जा सकता क्योंकि उनकी प्रबल धारणा है कि यह जन्मजात नासूर नहीं है, हमारी ग़लतियों से ही यह घाव लगा है। "सैकड़ों स्त्रियाँ जो हर रोज़ बाज़ार में झरोखों में बैठी दिखायी देती हैं जिन्होंने अपनी लज्जा और सतीत्व को भ्रष्ट कर दिया है उनके जीवन का सर्वनाश करने वाले हमीं

---

१ प्रेमाश्रम पृ० ३३६

२ धर्मसंकट मानसरोवर भाग ८ पृ० ४२

लोभ है।[1] प्राचीन ऋषियों ने इन्द्रियों के दमन करने के दो साधन बताये हैं—
एक त्याग दूसरा वैराग्य। पहला साधन अत्यन्त कठिन और दुस्साध्य है। लेकिन
हमारे नागरिक समाज ने अपने मुख्य स्थानों पर 'मीनाबाजार' सजा कर इसी
कठिन मार्ग को ग्रहण किया है। उसने गृहस्थी को कीचड़ का कमल बनाना
चाहा है।[2] वासना की छुट्टी देकर हमने विषभरी नागिनों की पुष्टि की है।
यह पापोत्तेजना नहीं है तो और क्या है? 'हम में आत्मगौरव का इतना
अभाव क्यों है? हमारी निर्जीवता का क्या कारण है? ये मानसिक दुर्बलता
के लक्षण हैं।[3] कुछ भी हो भोर का भटका बटोही सांझ घर आ जाये तो
भूला नहीं कहलाता हमें आज विट्ठलदास जैसी 'अनुकम्पा' और प्रो
रमेशदत्त जैसे वेश्या-सुधारकों की आवश्यकता है। हमें वेश्याओं को आबादी से
दूर रखना चाहिए और वहीं से उनके उद्धार के सतत प्रयत्न करने चाहिए।
यह नहीं समझना चाहिए कि उन में सत्य की शक्ति मर चुकी है वह सो गई
है केवल उसे जगाने की आवश्यकता है। उनके संस्कारों को मिटाना होगा।
देखो तो 'सेवासदन' की सुमन बदल गई है 'गबन' की जोहरा बदल गई है
यहाँ तक कि उनके 'भोलेपन और निष्कपट व्यवहार' ने रमानाथ की आँखें भी
खोल दी हैं। 'मानसरोवर' की कोकिला तो स्वयमेव ही बदल गई है। आखिर
हम क्यों नहीं समझते कि 'हर जीव में एक ऐसी चीज होती है जिसे उसकी
आत्मा कह सकते हैं।' अस्तु हिन्दुस्तानी तहजीब की आत्मा है।[4] इसलिए
वेश्याओं के लिए सेवासदन खोलो अनाथ कन्याओं को शिक्षा दो उन्हें चतुर
गृहिणियाँ बना दो। ठीक है कि समाज को उन्हें अपनाने में हिचकिचाहट होगी
किन्तु जब भविष्य में मंथा गत ही नहीं रहेगा तो चरम स्वयमेव ही मर
जायेगा। हाँ यह घोर बात है कि मरने की वेला में दमन अधिक तीव्र हो
जाती है किन्तु उसके लिए हमें अपने नाखूनों को काटकर रखना होगा। देखें
फिर कैसे यह चरम नहीं मरता—यही है सुधारक प्रेमचन्द का पतिता नारी के
प्रति आशावादी एवं सहानुभूतिमय दृष्टिकोण।

जिस प्रेमचन्द को इकबाल की यह भावना अत्यन्त पसन्द थी कि मैं प्यासा
हूँ और इतना खुद्दार हूँ कि मुझे दूसरों के गिराये हुए पानी से एक प्याला मे

---

१ सेवासदन पृ १४८
२ ,, पृ ७२
३ पृ ७१
४ गोदान पृ ३३

मारा जा सकता है।[1] यह बहुत स्वाभाविक ही है कि वह नारी में आत्मिक उत्थान एवं कुलशील को अनिवार्य समझें और इस दृष्टि से भारतीय नारी को पाश्चात्य नारी से श्रेष्ठ समझें। भारतीय नारी के त्याग, मनस्तुष्टि, सौम्यता एवं संकोचशीलता आदि आत्म-गरिमा के गुणों का उन्हें पाश्चात्य नारी में अभाव-सा ही दीखता है। वास्तव में उनकी आदर्श-कल्पना सुसंस्कृत नारी की है, अविलम्ब आधुनिका की नहीं। प्रेमचन्द के अनुसार पश्चिम में तो 'आत्मा को कुचला जाता है, स्वार्थ-सेवा एवं विलासिता के नित्य-नये साधनों का अन्वेषण किया जाता है, काम और अर्थ ही वहाँ जीवन है, उनका धर्म भी विलास है *और उनका अध्यात्म भी भौतिक सन्तुष्टि है। फिर भी यह दावा है कि हमारी* शिक्षा और सभ्यता विचार-स्वातन्त्र्य के पोषक हैं, उनकी उदारता यथार्थ में विवेक-शून्यता है।'[2] आत्मिक शान्ति के स्थान पर वहाँ की नारी में शारीरिक तृप्ति की क्षणिकता एवं तज्जन्य कुण्ठाएँ विद्यमान रहती हैं। इसीलिए सोफ़ी हिन्दू न होते हुए भी हिन्दू धर्म पर जान देती है। वह कहती है, 'जो आत्मिक शान्ति मुझे और कहीं न मिली, वह गोपियों की प्रेम-कथा में मिल गई। और गोपियों की प्रेम-कथा क्या है? एकनिष्ठता, सहनशीलता, निश्छलता, सर्वस्व-त्याग एवं भक्ति की उदात्त गाथा ही न! यहीं पर प्रेमचन्द दोनों नारी-समाजों में अन्तर मानते हैं। पश्चिमानुगामी फैशनेबल नारी-वर्ग को भारत में देख कर प्रेमचन्द को कहना ही पड़ता है, "मुझे खेद है कि हमारी बहनें पश्चिम का आदर्श ले रही हैं जहाँ नारी ने अपना पद खो दिया है और स्वामिनी से गिर कर विलास की वस्तु बन गई है। पश्चिम की स्त्री स्वच्छन्द होना चाहती है इसलिए कि वह अधिक से अधिक विलास कर सके। हमारी माताओं का आदर्श विलास कभी नहीं रहा। उन्होंने केवल सेवा के आदर्श से सदैव गृहस्थी का संचालन किया है। पश्चिम में जो चीज़ अच्छी हैं वे उनसे लीजिये (उदाहरणस्वरूप 'कुराना' प्रहसन में पर्दा प्रथा का निवारण अनिवार्य समझा गया है)। संस्कृति में सदैव आदान-प्रदान होता आया है, लेकिन अन्धी नक़ल तो मानसिक दुर्बलता का ही लक्षण है। पश्चिम की स्त्री आज गृहस्वा

---

१ अहल ख्वाहम, बाँगुला एतरल कि मरा
मी नवाँ गुरल व बक बाले बुलाले दीवारी।
— प्रगतिशील लेखक संघ में दिये गए भाषण से।

२ रंगभूमि, पृ ॥

३ „ पृ २६१

स्वामिनी नहीं रहना चाहती भोग की विलास लालसा ने उसे उन्मत्त बना दिया है। वह अपनी लज्जा और गरिमा को जो उसकी सबसे बड़ी विभूति थी चंचलता और आमोद-प्रमोद पर होम कर रही है। जब मैं यहाँ की सुशिक्षित बालिकाओं को अपने रूप का या भरी हुई गोल बाँहों या अपनी नग्नता का प्रदर्शन करते देखता हूँ तो मुझे उन पर दया आती है। उनकी लालसाओं ने उन्हें इतना पराभूत कर दिया है कि वे अपनी लज्जा की भी रक्षा नहीं कर सकतीं। नारी की इससे अधिक और क्या अधोगति हो सकती है?'[1] '[illegible]' कहानी में 'उन्माद' कहानी में 'शाप' कहानी के विदेशी बटोही के कथन में तथा 'प्रेम की वेदी' की शैली के प्रारम्भिक रूप में और 'गोदान' के मेहता की वक्तृता में प्रेमचन्द की इस भावना के विशद दर्शन किये जा सकते हैं। 'शान्ति' कहानी तो इसका अन्यतम उदाहरण है। यहाँ बाबूजी जो अपनी सुगृहिणी पत्नी को पश्चिम के बुलबुल-रूप में देखना चाहते थे अन्त में स्वतः ही मानसिक क्लेशों में ग्रस्त हो जाते हैं और याचना करते हैं, "मैं फिर तुम्हें वही पहले की-सी लज्जाशीला सिर ढकने वाली पूजा करने वाली रामायण पढ़ने वाली घर का कामकाज करने वाली चरखा कातने वाली ईश्वर से डरने वाली पति-श्रद्धा से पूर्ण स्त्री देखना चाहता हूँ।"[2] यही नहीं उस नारी की अपनी आत्मा भी आवाज देती है— 'तूने फ़ैशन और वस्त्राभूषण में अवश्य उन्नति की है तुझ में अपने स्वार्थों का ज्ञान हो गया है, तुझ में जीवन के सुख भोगने की योग्यता अधिक हो गई है तू अब अधिक गर्विणी दृढ़-हृदय और शिक्षा-सम्पन्न भी हो गई है, लेकिन तेरे आत्मिक बल का विनाश हो गया है क्योंकि तू अपने कर्तव्य को भूल गई है।'[3]

पश्चिम के प्रभावस्वरूप भारत तलाक की समस्या भी आधुनिक नारी की विकट समस्या बनती जा रही है। अपने सम्पूर्ण साहित्य में प्रेमचन्द ने इस पर आधारित कोई रचना अथवा प्रसंग-विशेष नहीं लिखा है। कारण यह है कि वह उस सर्वहारा गरीब तथा निर्धन वर्ग की अनुभूतियों के चित्रकर्ता हैं जिसमें बाह्य संघर्ष एवं असफलताओं के कारण तलाक का प्रश्न ही तीव्र रूप में उपस्थित नहीं होता। तो भी डा० इन्द्रनाथ मदान को लिखे एक पत्र में इस पर उन्होंने अपने विचार प्रकट किये हैं। वे लिखते हैं 'सर्वहारा-वर्ग में तलाक

१ गोदान, पृ० १६१-६४
२ शान्ति मानसरोवर भाग ७, पृ० ६१
३ ,, पृ० ६२

साधारण-सी बात है। केवल तथाकथित उच्च वर्ग में ही इसने उग्र रूप धारण कर लिया है। अपने श्रेष्ठतम रूप में विवाह भी एक प्रकार का समझौता और समर्पण ही है। यदि कोई दम्पती सुखी होना चाहते हैं तो उन्हें एक-दूसरे के लिए गुंजाइश रखनी चाहिए। वैसे ऐसे भी लोग हैं जो अच्छी परिस्थिति में भी सुखी नहीं रह सकते। स्वतन्त्र प्रेम और सभी प्रकार के संबंधों की छूट होने पर भी अमरीका में तलाक कम हो ऐसी बात नहीं है। चाहे स्त्री हो या पुरुष उनमें से एक को झुकने के लिए तैयार रहना चाहिए। मैं यह नहीं मानता कि दोष केवल पुरुष का ही है बहुत-से मामले ऐसे हैं जहाँ स्त्रियाँ संकट पैदा करती हैं और काल्पनिक दुखों की सृष्टि कर लेती हैं। जब इस बात का निश्चय ही नहीं है कि तलाक हमारी वैवाहिक बुराइयों को दूर करेगा मैं उसे समाज पर लादना नहीं चाहता। हाँ कुछ मामलों में तलाक आवश्यक हो जाता है। लेकिन मेरी समझ में झगड़े की जड़ एक-दूसरे की उपेक्षा को छोड़ कर और कोई नहीं है। गरीब स्त्री को बिना कुछ गुजारा दिये तलाक दिया जाय यह माँग केवल कुत्सित व्यभिचार के परिणामस्वरूप की जाती है। समानता के आधार पर निर्मित समाज में इस माँग को कोई स्थान नहीं है।[1] अपनी 'कुसुम' कहानी में प्रेमचन्द तलाक शब्द तो जबान पर नहीं लाये किन्तु कुसुम का लोभी पति धन-लालसा के कारण जब उसकी उपेक्षा करता है, तब कुसुम का आत्मसम्मान जाग्रत हो जाता है। उसे पता है कि उसका पति दूसरी शादी करने जा रहा है किन्तु वह अपने पिता को फिर भी उसके विलायत जाने का प्रबन्ध नहीं करने देती। ध्यान का विषय है कि यहाँ लेखक द्वारा उसके पुनर्विवाह का भी कोई निर्देश नहीं दिया गया है अपितु उसे त्याग के अथाह सागर पर छोड़ दिया गया है। वस्तुतः जिराने को तो प्रेमचन्द ने डा॰ मदान को लिख दिया है कि कुछ परिस्थितियों में तलाक आवश्यक हो जाता है किन्तु यथार्थतः वह इसे तनिक भी पसन्द नहीं करते यहाँ तक कि इसका कहानी-रूप में चित्रण भी उन्हें नागवार गुजरता है।

बहुविवाह को तो प्रेमचन्द ने आड़े हाथों लिया ही है किन्तु अन्तर्जातीय असातवर्णीय अथवा सवर्णवर्गीय विवाहों से सम्बद्ध उनके सभी प्रयास प्रायः पुरातन्त्र होते हैं। इस विषय से सम्बद्ध 'कायर' 'लाला-गीला' दो कब्र आदि कहानियों तथा 'रंगभूमि' पर यदि पैनी दृष्टि डाली जाय तो स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि व्यक्तिगत रूप में तो प्रेमचन्द इसके विपक्ष में नहीं हैं किन्तु एक

१ डा॰ इन्द्रनाथ मदान को लिखे एक पत्र में से।

तो सामाजिक परिस्थितियों की प्रतिकूलता में ऐसे विवाहों को वैसे ही दुस्साहस से कम वह नहीं समझते दूसरे वह मानते हैं कि इन सम्बन्धों में पुरुष से स्त्री को अपेक्षाकृत अधिक ठोकरें खानी पड़ती हैं। सामाजिक मर्यादा-रूपी ढाल जब नारी के ऊपर से उठ जाती है तब यही आशंका बनी रहती है कि जिस पुरुष के लिए उसने आत्मोत्सर्ग किया होता है वही कहीं स्वाभाविक पक्षपातवश सामाजिक सम्मान की असन्तुष्टिवश संशयवश अथवा नारी उद्धार के नशे के धीरे-धीरे उतरने पर 'दो कब्रें' के रामेन्द्र की भाँति कह न दे 'तुम्हारे ही कारण मुझे ...' या 'कायर' कहानी के केशव की भाँति सामाजिक परम्पराओं के आगे नतमस्तक होकर वैमनस्य न प्रकट कर दे—'पुरानी बातों को भूल जाओ उस समय मैंने इन बाधाओं की कल्पना नहीं की थी'[1]—और परिणामस्वरूप 'मृत्यु' की राह न देखनी पड़े। यही कारण है कि विनय और सोफी को प्रेमचन्द मृत्यु-दण्ड देते हैं और 'कायाकल्प' की अज्ञात-कुलशीला अहल्या पर भी राजा विशालसिंह की पुत्री होने की मोहर उन्हें लगानी ही पड़ती है। वस्तुतः प्रेमचन्द ने ऐसे विवाहों की तारुण्यावस्था के पृष्ठ खोल कर इस समस्या को आगे आने वाले पाठक-समाज पर छोड़ दिया है और अपनी अभिव्यक्ति के परिणामस्वरूप एक प्रकार समाज की ओर इंगित भर कर दिया है।

प्रेमचन्द दिखा देना चाहते हैं कि विधवाओं के भी दिल होता है और उन्हें भी हूक उठा करती है। इसलिए वह विधवा-विवाह के पक्ष में हैं। स्वयं उन्होंने विधवा शिवरानी देवी से विवाह किया था। किन्तु सभी प्रकार की विधवाओं के परिणयन की राय वह नहीं देते। इसके लिए उन्होंने निम्न और उच्च दो प्रकार के समाज-वर्गों की ओर ध्यान दिया है। निम्न वह जो प्रायः ग्रामीण हैं अशिक्षित हैं जीवन की विभिन्न विवशताओं के कारण जिसकी विवाह-सम्बन्धी परम्पराएँ शिथिल पड़ चुकी हैं और जहाँ नारीत्व के द्वार पर पति के रूप में रक्षक की आवश्यकता बनी रहती है। ऐसे समाज में अतिप्रौढ़ा विधवाओं को छोड़ कर बाल-विधवा किशोरी विधवा नव-यौवना तथा प्रौढ़ा आदि शेष सभी प्रकार की विधवाओं का विवाह प्रेमचन्द अनुचित नहीं मानते क्योंकि यहाँ की नारी में शिक्षा का अप्रसार एवं तज्जन्य विचार तथा तुलनात्मक अध्ययन द्वारा आगत मानसिक ग्रन्थियों का अभाव होता है और न ही पश्चिमी सभ्यता की छाप उस पर पड़ी होती है। अतः पुनर्विवाह में उसकी विशेष निजी बाधा उपस्थित ही नहीं होती। विवाह को अध्यात्म के स्तर पर ले

---

१ कायर, मानसरोवर भाग १, पृ० २१८

जाकर समझने और उसकी याद के सहारे ज़िन्दगी काटने की क्षमता भी उसमें नहीं होती अथवा यों कह लीजिये कि उसकी वह अभ्यस्त नहीं होती। यही कारण है कि 'अलग्योझा' कहानी की दो बच्चों वाली विधवा मुलिया का विवाह केदार से हो जाता है। विवाह की बात सुनते ही वैधव्य के शोक से मुरझाया हुआ उसका पीत वदन कमल की भाँति अरुण हो उठता है। दस वर्षों में जो कुछ उसने खोया था वह इसी क्षण में मानों ब्याज के साथ उसे मिल जाता है। वही लावण्य वही विकास वही आकर्षण वही लोच फिर आ जाता है।[1] 'स्वामिनी' कहानी की विधवा प्यारी का विवाह अवस्था की चिन्ता किये बिना ही उसके हलवाहे जोखू से हो जाता है। 'सुभागी' कहानी की बालविधवा के परिश्रम एवं संयम पर ठा० जमींदार सज्जनसिंह इतने मोहित हो जाते हैं कि जाति-कुजाति की भावना को किनारे रख कर उसे अपने पुत्र के लिए चुन लेते हैं। 'गोदान' की झुनिया की विधवावस्था से पूर्व ही गोबर से उसका पति-रूप में शारीरिक सम्बन्ध हो जाता है। 'बालक' कहानी का गंगू गर्भिणी गोमती से प्राप्त पुत्र को अपनाता हुआ कहता है 'मैंने एक बोया हुआ खेत लिया तो क्या उसकी फसल को इसलिए छोड़ दूँगा कि उसे किसी दूसरे ने बोया था?'[2] किन्तु प्रेमचन्द की विशेषता यह है कि इस निम्न वर्ग में भी विधवा-विवाह के आदर्श को उन्होंने बना रखा है। यदि पुरुष विधवा नारी की मातृत्व-शक्ति का तिरस्कार करके केवल दो-चार दिन की शारीरिक भूख की तृप्ति के हेतु ही उससे पहला अथवा दूसरा विवाह करना चाहता है तो 'सूत' कहानी की मुनिया तथा 'कर्मभूमि' की मुन्नी की भाँति वे उसका विधवा-रूप ही अधिक श्रेयस्कर समझती हैं। दूसरा वर्ग है उच्च वर्ग। यह वर्ग शिक्षित है ऐश्वर्ययुक्त है किन्तु परम्पराओं का दास है। इस वर्ग की विधवा कहती है "कुछ मालूम भी तो हो संसार मुझसे क्या चाहता है। मुझमें जीव है चेतन है जड़ क्योंकर बन जाऊँ! मुझसे यह नहीं हो सकता कि अपने को अभागिनी दुखिया समझूँ और एक टुकड़ा रोटी खाकर पड़ी रहूँ।" मैं अपने सम्मान की रक्षा आप कर सकती हूँ। मैं इसे अपना घोर अपमान समझती हूँ कि पग-पग पर मुझ पर शंका की जाय नित्य कोई चरवाहों की भाँति मेरे पीछे लाठी लिये घूमता रहे कि किसी खेत में न जा पड़ूँ। यह दशा मेरे लिए

---

१. अलग्योझा मानसरोवर भाग १ पृ. ३४

२. बालक, मानसरोवर भाग पृ. ११९

मानता है।[1] इस युग में विधवा-विवाह की बात करना एक टेढ़ी खीर है। तो भी विधवा के बाल तथा किशोरी-रूप का पुनर्विवाह यहाँ प्रेमचन्द आवश्यक समझते हैं। इस दृष्टि से उनकी कहानी 'नैराश्य लीला' यथार्थ का सुन्दर पुट लिये हुए है। कैलासी को पता ही नहीं विवाह क्या वस्तु है, और वह विधवा हो जाती है। उसे शोक से त्राण दिलाने के लिए आमोद-प्रमोद, सेवाभ्यास आदि साधनों को बर्ता जाता है किन्तु उसकी माँ को जाहिर नहीं लगता है कि 'बिना माँझी के नाव पार लगना कठिन है, किधर हवा पाती है बह जाती है' और उसके पिता भी यही कहते हैं कि 'इसका बस एक ही उपाय है पर उसे जबान पर नहीं ला सकता'। इस प्रकार की अवस्था में प्रेमचन्द विधवा-विवाह को आवश्यक समझते हैं। हाँ ऐसी अवस्था में जहाँ कि विधवा युवती हो अथवा प्रौढ़ा किन्तु पति प्रेम तथा वासना की निस्सारता का एक बार सन्तुष्ट अनुभव कर चुकी हो प्रेमचन्द विवाह की अपेक्षा उसे किसी अन्य आत्मावलम्ब पर छोड़ देते हैं। वह आधार होता है पुत्र अथवा पति की पुनीत स्मृति का जिसे वह विधवा कलंकित नहीं करना चाहती। 'माँ' कहानी की करुणा का चरित्र इस दृष्टि से दर्शनीय है। प्रेमचन्द का विश्वास है कि भोग-विलास सैर-तमाशे से आत्मा उसी भाँति सन्तुष्ट नहीं होती जैसे कोई चटनी अथवा अचार खाकर अपनी क्षुधा को शान्त नहीं कर सकता। जीवन किसी तथ्य (आधार) पर ही टिक सकता है।[2] रेणुका के जीवन में वह आधार है पशुप्रेम करुणा गोपा पूर्णा सुवामा के पास वह आधार है मातृत्व तथा पति की सुमधुर स्मृति माधवी के पास भी ऐसा ही आधार होता है जिसके गिर जाने पर वह जीवन से गिर जाती है। प्रेमचन्द जानते हैं कि यार का अवलम्ब लेना अत्यन्त कठिन होता है, किन्तु साथ ही उनकी सतीत्व-कल्पना भी तो चरम नहीं है। कहते हैं, 'प्रतिज्ञा' के प्रथम संस्करण में उन्होंने विधवा पूर्णा का पुनर्विवाह कर दिया था किन्तु दूसरे संस्करण में उसे इसलिए काट दिया गया कि उससे सतीत्व को चोट पहुँचती थी। वस्तुतः हम फिर यही कहेंगे कि उस नारी से जो सतीत्व को भलीभाँति समझती है प्रेमचन्द पुनर्विवाह की अपेक्षा सतीत्वार्चना की ही अधिक अपेक्षा रखते हैं।

प्रेमचन्द चाहते हैं कि समाज-सुधार तथा राष्ट्र-सेवा के पथ पर भी नारी

---

१ नैराश्य लीला मानसरोवर भाग ३ पृ ५४

२. कर्मभूमि, पृ ७६

किसी से पीछे न रहे। घर से बाहर निकल कर ही नहीं अपितु घर-गृहस्थी का संचालन करती हुई भी वह राष्ट्र के प्रति अपने कर्तव्य को निभा सकती है। 'रंगभूमि' की जाह्नवी 'धिक्कार' कहानी की बूढ़ी पुजारिन तथा 'गबन' की सुभद्रा की भाँति वह वीर-प्रसू हो सकती है नहीं तो अपने ही हाथों उसका गला घोंट सकती है। 'रंगभूमि' की सोफिया प्रेमाश्रम की श्रद्धा 'सती' कहानी की चिन्ता 'माँ' की करुणा 'अनुभव' की बेबीजी 'पाप का अग्निकुण्ड' की कमलगिनी और 'विद्रोह' की श्यामा की भाँति वह वीर-परिणीता हो सकती है 'सोहाग की साड़ी' की गोदा की भाँति वह विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार कर सकती है इन्दु की भाँति चन्दा दे सकती है, वह चर्खा कात सकती है—वह क्या नहीं कर सकती? घर से बाहर निकल कर तो उसकी त्याग भावना के साथ एवं उत्साह-बल और भी सुदृढ़ हो सकते हैं। 'जेल' कहानी की मृदुला की तरह सम्पूर्ण परिवार का बलिदान देकर वह 'जेल' को भी 'सम्मान और भक्ति की रेखा' मान सकती है गोदावरी की भाँति 'पत्नी से पति' बन सकती है 'शराब की दुकान' की मिसेज सक्सेना की तरह पिकेटिंग कर सकती है 'जुलूस' की मिट्ठनबाई की भाँति वह शहीदों के परिवारों को दिलासा दे सकती है और 'कर्मभूमि' की सुखदा सकीना तथा मुन्नी की भाँति देश के लिए पुरुषों से भी अधिक गौरव का विषय बन सकती है। राष्ट्रीय समस्याओं की ओर तो उसका सहज स्नेहशील स्वभाव स्वत ही चला जाता है। वह कह सकती है "आप मेरे पूज्य पिता हैं मैं आपकी सेवा करूँगी लेकिन आपको दूसरों का खून न चूसने दूँगी इसे हरगिज नहीं चाहते। यह चोरी भी नहीं है। यह केवल मूर्ख और मिथ्या का तमाशा है।"[1] "बहन चाहे मैं मर जाऊँ पर इस कसौटी को मिटा कर छोड़ूँगी।"[2] इस प्रकार वह 'सुखदा' की भाँति किसी भी बड़े से बड़े पुरुष नेता के गौरव को प्राप्त कर सकती है सेवाश्रम आदि की नींव रखना तो उसके लिए मामूली बात है।

दहेज प्रथा पर्दा प्रथा एवं बहु विवाह को प्रेमचन्द नारी के विकास में बाधाएँ समझते हैं। 'एक आँच की कसर' 'निर्मोही' 'कुसुम' (मानसर) आदि में तथा सुमन निर्मला तथा मनोरमा आदि चरित्रों के माध्यम से उन्होंने यह स्पष्ट कर दिया है कि न केवल व्यक्ति अपितु समाज की इकाई पर भी इसका अत्यन्त घातक प्रभाव पड़ता है। जिस समाज में विवाह आर्थिक विवाद

---

१ प्रायश्चित्त पृ १८

२ कर्मभूमि पृ ४४२

का साधन नहीं उसका नैतिक ह्रास अवश्यम्भावी है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रेमचन्द की नारी भावना में आकाश-सा व्यापकत्व, प्रकाश-पुंज-सा आदर्शालोक, सरिता की-सी निःस्पृह व्यावहारिकता एवं उपयोगिता, मानव-सुलभ चिन्तन, सितार की झनकार-सी सहानुभूति—ये सब इस प्रकार से विद्यमान हैं कि वह कहीं भी और कभी भी स्त्री और पुरुष के हृदयों को एक तार में बाँध सकती है और उसके द्वारा नारी के प्रति जो एक श्रद्धा की भावना उद्भूत होती है उससे बड़ तथा गम्भीर लोकमंगल की कल्पना इस हाड़-मांस के जगत् में सम्भव नहीं हो सकती। वह भी लाख पुरानी भले ही हो किन्तु बीती नहीं है उसमें सूक्ष्म तर्काश्रित समाधानों की-सी उलझी हुई महानता भले ही न हो किन्तु वह हमारे हृदय एवं पौरुष को कभी नहीं छीनती।

एक बात और, यह ठीक है कि 'विश्वास' की मिस जोशी तथा 'सेवासदन' की सुमन आदि कुछ नारी-पात्रों के चित्रण में आदर्श को बनाये रखने के कारण प्रेमचन्द ने कहीं-कहीं मनोविज्ञान की परवाह नहीं की है किन्तु इतनी-सी बात को लेकर उनकी नारी-भावना पर आक्षेप नहीं किया जा सकता। ऐसे भी रोग होते हैं जो घातक एवं संक्रामक होते हैं। रोगी के आगे वहाँ रोग का पोथा खोल कर नहीं बैठा जाता अपितु उसे दिलासा दिया जाता है, स्वस्थ होने का विश्वास दिलाया जाता है और ऐसा विश्वास किसी भी औषधि से अधिक असर रखता है। प्रेमचन्द को अपने पात्रों से प्यार है उसी प्रकार जैसे एक निर्धन पिता अपने पुत्र को 'राजा बेटा' कहता है। उनकी नारी भावना पर यह आक्षेप भी कि उन्होंने विवाह आदि नारी-जीवन की समस्याओं का कोई समाधान नहीं दिया है, प्रेमचन्द की नारी-भावना को न समझना है। एक तो ये समस्याएँ चिरन्तन हैं और इनका चिरन्तन समाधान प्रेमचन्द न दिया भी है दूसरे समस्याओं को आधुनिक अधिकांश उपन्यासों की तथाकथित मनोवैज्ञानिकता की लौ में उनकी नारी-भावना को देखना भी सब से बड़ी गलती है। आज हम मनोविज्ञान को अत्यन्त व्यक्तिपरक तथा असामाजिक कुण्ठाओं के रूप में अपने कथा-साहित्य में ग्रहण कर रहे हैं। यह प्रवृत्ति निर्माणात्मक नहीं है। प्रेमचन्द ने समस्याओं को संवेदनाओं के रूप में ग्रहण किया है और वे आधुनिक समाधानों की अपेक्षा कहीं अधिक समाज की सहानुभूति को खींचती हैं। और फिर प्रेमचन्द की नारी भावना का महत्त्व तो इस दृष्टि से अधिक है कि उसने हिन्दी-उपन्यास में युगान्तर उपस्थित किया है प्रारम्भ से लेकर अन्त तक वह निर्विकल्प एवं निर्विकार रही है और उसने हिन्दी-साहित्य में नारी के

प्रति चिरप्रचलित विलास-प्रवृत्तिमूलक तथा निवृत्तिमूलक दो आत्यन्तिक दृष्टि-
कोणों को मध्यम मार्ग दिया है, उसने समाज में नारी की प्रतिष्ठा को स्था
यित्व प्रदान किया है और साहित्य-साधकों के लिए विचार भूमि को समतल
बनाया है।

४

प्रेमचन्द के नारी-पात्रों का वर्गीकरण

यों तो चरित्र प्रकार तथा चित्रण-विधियों के अनुसार ही पात्र-वर्गीकरण के भी अनेक आधार हो सकते हैं जैसे वर्ग और व्यक्ति का आधार, आदर्श और यथार्थ का आधार, गति तथा स्थिरता का आधार और विश्लेषणात्मक तथा नाटकीय अभिव्यक्तियों का आधार किन्तु प्रेमचन्द के जिस व्यापक नारी चित्रण की चर्चा पीछे हो चुकी है उसके वर्गीकरण के लिए दो ही स्पष्ट आधार सामने आते हैं—प्रवृत्तियों अथवा गुणों पर आश्रित नारी-रूप का आधार तथा समाजगत आर्थिक स्तर-वैषम्य का आधार। इन दोनों में भी आर्थिक आधार को ग्रहण करना सर्वथा नासमझी का ही परिचायक होगा। कारण यह है कि एक तो पुरुष से परे नारी की आर्थिक नाम की पृथक समस्या प्रायः होती नहीं दूसरे, अपनी सम्पूर्ण रचनाओं में प्रेमचन्द आद्योपान्त अविकसित नारी के एक ही आदर्श को मान कर चले हैं और उनका यह त्याग सेवा तथा प्रेम की भावनाओं से अनुप्राणित आदर्श समाज की आर्थिक सीमाओं से बहुत आगे है। उनकी नारी ग्रामीण अथवा नागरिक होने से पहले नारी-सामान्य की आदर्श भावना है। न तो प्रेमचन्द ने अर्थ को प्रायः नारी-समस्या के मूल में ग्रहण किया है और न ही अपने नारी-पात्रों के चित्रण में वैयक्तिक विशेषताओं से अधिक महत्त्व उन्होंने यथार्थ परिस्थितियों को दिया है। उनकी नारी जो भी हो जहाँ भी हो प्रायः सहनशीलता त्याग तथा सेवा आदि का दामन पकड़े हुए परिस्थितियों का सामना करती है और कई बार उनमें पिसती हुई भी उनसे बहुत ऊपर उठी रहती है। संक्षेपतः उनकी नारी सार्वभौम नारी है जिसके विवेचन में वर्गीकरण का आर्थिक आधार अत्यन्त अपर्याप्त है। हाँ पूर्वाग्रह की बात दूसरी है।

देखा जाए तो चरित्र और वर्गीकरण भी दो परस्पर-विरोधी से शब्द दीख पड़ते हैं। चरित्र का अर्थ ही है उन विशेषताओं का समन्वय जो एक व्यक्ति को दूसरे व्यक्ति से पृथक करती हैं। अतः प्रत्येक चरित्र (विशेषतः औपन्यासिक पात्र) स्वभावतः दूसरे से कहीं न कहीं भिन्न होगा ही। ऐसी दशा में तो जितने चरित्र उतने ही प्रकार होंगे। किन्तु बात ऐसी नहीं है, जैसा हम केवल

प्रभावात्मक (मानव भूतियों पर आधारित) दृष्टिकोण से ही सोचते हैं। सत्साहित्य में एक सत्यान्वेषी जीवन-दर्शन अनुस्यूत होता है। सत्य सर्वत्र एक ही होता है अतः जो भी चरित्र सतोगुण पर आधारित होंगे अथवा जिनके चित्रण का लक्ष्य मानव-मंगल होगा उनमें तत्सम्बन्धी विशेषताओं के प्राधान्य के कारण एकरूपता अनिवार्यतः विद्यमान होगी। यह 'प्राधान्य' ही वर्गीकरण में काम करता है। नारी जननी है भगिनी है और प्रेमिका भी है; किन्तु नारी केवल प्रेमिका है जननी अथवा भगिनी नहीं—यह असत्य है। वर्गीकरण में जब हम कुछ पात्रों को प्रेमिका-रूप अथवा मातृरूप अथवा कामिनी-रूप के अन्तर्गत रखते हैं तो उसका तात्पर्य यही होता है कि अन्य रूप-विशेषताओं के होते हुए भी अमुक में रागतत्त्व की प्रधानता है अमुक में वात्सल्य सर्वप्रधान है और अमुक में शारीरिक तृप्ति के [illegible] काम-दाह की प्रमुखता है। प्रवृत्तियों अथवा रूप-विशेषताओं के प्राधान्य के इसी आधार पर प्रेमचन्द के नारी-पात्रों का निम्न प्रकार से वर्गीकरण किया जा सकता है प्रयत्न यह भी रहा है कि उनके सम्पूर्ण नारी-पात्र इसमें कहीं न कहीं स्थान पा ही जायें—

प्रेमिका-रूप

प्रेम से तात्पर्य मूलतः दो युवक हृदयों (स्त्री और पुरुष) के पारस्परिक रूपाकर्षण से ही होता है। यह आकर्षण वासनात्मक होता है किन्तु गुणाश्रयी होकर ही उत्कृष्टता को प्राप्त होता है। प्रेमचन्द भी प्रेम का मूल रूप में स्थित मानते हुए उसी प्रेम को महान् मानते हैं जो पारस्परिक विश्वास तथा त्याग बलिदान एवं विश्वास आदि मानव-मूल्यों को आत्मभूत करके पनपता है। पुरुष की अपेक्षा नारी को प्रेमपात्र के रूप में वह अधिक एकनिष्ठ, पवित्र तथा धन समस्तीत समझते हैं। इसी कारण उनकी कृतियों में नारी के प्रेमिका-रूप का वर्णन अत्यन्त गरिमापूर्वक हुआ है। (यहाँ पुनः यह स्पष्ट कर दिया जाता है कि यह आवश्यक नहीं है कि प्रेमिका परिणीता अथवा भगिनी न हो। जिस पात्र में जिस प्रवृत्ति तथा जिन गुणों का प्राधान्य होगा उसी रूप के अन्तर्गत उसे रखा जायेगा।) प्रेमचन्द द्वारा वर्णित प्रेमिका-पात्रों के पल्लवित होने में दो कारणों ने काम किया है—परिस्थिति-निरपेक्ष निजी गुणों और परिस्थिति सापेक्ष वातावरण ने। अतः निजी गुणों तथा परिस्थितियों के आधार पर इस प्रेमिका रूप का उपवर्गीकरण किया जा सकता है। निजी गुणों के प्राधान्य के आधार पर प्रेमचन्द के नारी-पात्रों में दो प्रकार के प्रेमिका-रूप स्पष्टतः देखने

में आते हैं —

१ राग प्रधान प्रेमिका रूप—इस रूप के अन्तर्गत वे प्रेमिकाएँ आती हैं जो जीवन में एक ही की होकर रह सकती हैं। परिस्थितियाँ कैसी भी हों पति तथा प्रेमपात्र की पृथक् कल्पना इन्हें असह्य है। ये प्रायः भोली-भाली हैं और इनका धर्म, इनका समाज, इनका सर्वस्व वही एक है जिसके प्रति इन्होंने हृदय समर्पण किया होता है। उसके साथ ये एक अटूट तार में बँधी होती हैं और उसके लिए बड़े से बड़ा त्याग भी कर सकती हैं यहाँ तक की उसकी खुशी के हेतु उससे भी विलग रह सकती हैं किन्तु प्रणयविहीन अथवा तिरस्कृत होकर जीवन से प्रायः किसी प्रकार का समझौता नहीं कर सकतीं। इनकी सबसे बड़ी विशेषता यही है कि ये एकनिष्ठाएँ अपने और अपने प्यार के प्रति बहुत सच्ची हैं। संक्षेपतः ये प्रेमचन्द की इस धारणा को प्रकट करती हैं कि 'स्त्री को जीवन में प्यार न मिले तो उसका अन्त हो जाना ही अच्छा है।' 'रंगभूमि' की सोफिया इसमें प्रतिनिधि पात्र है। इसके अतिरिक्त 'कायर' कहानी की प्रेमा 'सैसर' की मैना 'कामना-तरु' की चन्दा 'आत्म-संगीत' की मनोरमा 'ऐक्ट्रेस' की तारा; 'ज्योति' की रुपिया 'हार की जीत' की कमला 'मायापीड़ा' की श्रद्धा तथा किसी सीमा तक 'गोदान' की सिलिया आदि नारी-पात्र इसी रूप के अन्तर्गत आते हैं।

२ उत्साह-प्रधान प्रेमिका-रूप—इस रूप से सम्बद्ध वीरांगनाएँ एकोन्मुखी अथवा एकनिष्ठाएँ तो हैं किन्तु भोली भाली एवं सरल नहीं हैं। राग से अधिक इनकी उत्साह-वृत्तियाँ जागृत हैं। अपने प्रेम-पात्र की धर्म के प्रति लोक-सेवा के प्रति देश-रक्षा अथवा आत्म-सम्मान के प्रति विमुखता को ये कायरता समझती हैं और यही कारण है कि आत्म-सम्मान के उपरान्त मृत्यु ही इन्हें सर्वाधिक प्रिय है। 'जिहाद' कहानी की श्यामा 'सती' की चिन्ता 'मर्यादा की वेदी' की प्रभा तथा किसी सीमा तक 'दिल की रानी' की हबीब ऐसी ही प्रेमिकाएँ हैं।

परिस्थितियों द्वारा प्रधानतः निर्मित प्रेमिका-रूप के उपवर्ग के अन्तर्गत भी दो प्रकार के प्रेमिका-रूप आते हैं —

१ परिणय-प्रशमित प्रेमिका-रूप—इस रूप से उन नारी-पात्रों का सम्बन्ध है जिन्होंने कौमार्यावस्था में जाने अथवा अनजाने ही कभी किसी को हृदय समर्पित कर दिया था किन्तु अब उनका प्यार राख बन कर रह गया है। परिस्थितियों से विद्रोह न करके इन्होंने अधरों पर ताले डाल रखे हैं क्योंकि प्रेम-पात्र नहीं किसी अन्य को इन्हें पति-रूप में स्वीकार करना पड़ा है। सो

भी वे परिस्थितियों से ऊपर उठी हुई हैं क्योंकि पूर्व-प्रेम का आलोक इनकी त्याग श्रद्धा एवं कर्तव्य की आदर्श भावनाओं को आभासित कर करता रहता है। अब वे अपनी सम्पूर्ण कर्तव्य-भावना को पति की ओर उन्मुख कर चुकी हैं और इससे आगे जाने में अपना तथा लोक का कल्याण भी नहीं समझतीं। इस प्रकार ये प्रमिकाएँ पूर्व प्रेम के प्रति सच्ची हैं पति के प्रति सच्ची हैं और समाज के प्रति भी झूठी नहीं हैं किन्तु अपने प्रति क्या है—यह एक राज है जिसका राज बना रहना ही प्रेमचन्द को पसन्द है क्योंकि वह आवश्यक नहीं समझते कि आदर्श नारी स्वार्थवश अपने प्रति भी 'भूख' हो ही। 'कायाकल्प' की मनोरमा 'वरदान' की विरजन 'प्रतिज्ञा' की प्रेमा 'कर्मभूमि' की सकीना और किसी सीमा तक मेना भी इसी कोटि में आती है।

परिणयातीत भावोन्मुख प्रेमिका-रूप—इस प्रेमिका-रूप के अन्तर्गत वे निर्मिकाएँ आती हैं जो परिस्थितिवश अविवाहिता हैं किन्तु जिन्होंने प्रेम की स्मृति मात्र को ही जीवन का आधार मान लिया है और उसी के द्वारा पति के पावन सहवास के इन्द्रियातीत आनन्द का अनुभव करना चाहती हैं। अपनी सम्पूर्ण भावनाओं को इन्होंने सेवा-मार्ग किसी अन्य विराट् भावना अथवा प्रेम-पात्र की आदर्श-पूर्ति में लगा दिया है। इस प्रकार की नारी भावना की अभिव्यक्ति प्रेमचन्द ने बहुत कम की है क्योंकि एक तो वासना के उन्मूलन की अपेक्षा उसका प्रवृत्तिमूलक उदात्तीकरण अधिक स्वाभाविक होता है दूसरे, समाजगत व्यावहारिकता की दृष्टि से अत्यन्त स्वस्थ भी नहीं। 'वरदान' की माधवी के अतिरिक्त 'सेवाजायें' कहानी की तारा तथा किसी सीमा तक 'प्रेम की वेदी' (नाटक) की जैनी के चरित्र का उत्तरार्द्ध इसी रूप में समाहित होते हैं। 'गोदान' की मालती भी मेहता से मनतः परिणया तीत मित्र भाव ही से शेष जीवन का अवलम्ब मानती हुई सेवा-भाव की ओर अग्रसर होती है।

परिणीता रूप

इस वर्ग के अन्तर्गत प्रेमचन्द के वे नारी-पात्र स्थान पाते हैं जिनकी रेखाएँ पत्नी-रूप में अधिक उभरी हैं। परिणीता-रूप को पाँच प्रकार से देखा जा सकता है—

१ आदर्श पत्नी रूप—इस नारी-रूप के अन्तर्गत वे सहनशील एवं आत्म-विरोध-रहित पत्नियाँ आती हैं जो सतीत्व-शक्ति से आभासित हैं तथा

पति की प्रच्छ शक्तियाँ होने के साथ ही साथ पति अथवा पर-पुरुष-सुधारिका भी हैं। जिस विवाह को प्रेमचन्द आत्म-उत्थान का साधन मानते हैं वे उसी वात्सल्य भावना की धारक कल्पनाएँ हैं। प्रेमचन्द के नारी-पात्रों में सम्भवतः इन्हीं की संख्या सर्वाधिक है। 'रंगभूमि' की कुल्सूम 'सेवा-सदन' की सुभद्रा 'प्रेमाश्रम' की श्रद्धा विलासी और शीलमणि 'कायाकल्प' की अहल्या 'गबन' की जालपा 'राजा हरदौल' कहानी की कुलीना 'रानी सारन्धा' की सारन्धा 'दो सखियाँ' की चन्दा 'सती' की मुलिया 'त्याग' की बेला तथा 'गोदान' की धनिया और मिसेज खन्ना आदि अनेक नारी-पात्र इसी कोटि में आते हैं।

२ साधारण पत्नी-रूप—इस नारी-रूप के अन्तर्गत आती हैं वे पत्नियाँ जिनका पातिव्रत तो खण्डित नहीं है किन्तु जो सम्पूर्ण घरेलू स्वार्थी संकीर्णताओं एवं अन्धविश्वासों से युक्त हैं। इनका एक सीमित दायरा है जिसमें त्याग तथा सेवा नाम की वस्तु समझ से बाहर होती है। पारिवारिक आधिपत्य इनका प्रायः पति से भी अधिक होता है। 'वरदान' की प्रेमवती 'सेवा-सदन' की जाह्नवी 'निर्मला' की रंगीलीबाई 'गबन' की मानकी तथा जागेश्वरी 'रंगभूमि' की मिसेज सेवक 'कौशल' कहानी की माया 'निमन्त्रण' की सोना 'बूढ़ी काकी' की रूपा तथा 'संग्राम' (नाटक) की चम्पा आदि नारी-पात्र इसी रूप से सम्बद्ध हैं।

३ सपत्नी-रूप—बहुत कम सपत्नियों का चित्रण प्रेमचन्द ने किया है और वे भी साधारण सपत्नीत्व से ऊपर उठी हुई हैं। पतिव्रताएँ वे सभी हैं किन्तु ईर्ष्या एवं मान भावना पर वश इनका नहीं है। वैसे त्याग तथा सेवा से भी इनका परिचय है। 'कायाकल्प' की रोहिणी रामप्रिया और वसुमती 'सौत' कहानी की गोदावरी और गोमती तथा 'अग्नि-समाधि' की रुक्मिणी और सिलिया आदि सपत्नियों में गोदावरी रुक्मिणी तथा रोहिणी को तो किसी भी अन्य नारी-पात्र के समक्ष हल्का नहीं कहा जा सकता।

४ तिरस्कृता रूप—पत्नी पति के सम्पूर्ण प्रेम तथा विश्वास की भूखी होती है। पति दुराचारी हो अवस्था के अनुसार अयोग्य हो अथवा योग्य होते हुए भी उसे समझने की सामर्थ्य न रखता हो तो प्रत्यक्षतः भले ही वह जीवन के साथ किसी प्रकार का समझौता कर ले किन्तु सच तो यह है कि भीतर से वह अपने को उपेक्षिता एवं तिरस्कृता ही समझती है। प्रेमचन्द ने अपने तिरस्कृता चित्रण में अपने नारी पात्रों को निरीह तथा परिस्थितियों से जूझने वाले रूप में ही प्रायः ग्रहण किया है और इस तिरस्कार का कारण कभी व्यक्ति (पुरुष) में होता है तो कभी सामाजिक असमानता में। 'प्रेमाश्रम' की

विद्यावती 'निर्मला' की निर्मला तथा सुधा 'गोदान' की गोविन्दी देवी, 'प्रतिज्ञा' की सुमित्रा 'गबन' की रतन 'सेवासदन' की सुमन 'कर्मभूमि' की मुन्नी 'रंगभूमि' की इन्दु, 'कुसुम' कहानी की कुसुम (जिसे पता नहीं क्यों, डा० सत्येन्द्र ने विकृत मार्ग पर चलने वाली कह दिया है) 'सेवा' की लीला 'सोहाग का शव' की सुभद्रा 'निर्वासन' की मर्यादा संग्राम (नाटक) की रानी तथा 'गोदान' की सोना आदि ऐसी ही बेकसूर तिरस्कृताएँ हैं जिन्हें विवशताओं को स्वीकार करते हुए उनके सुधार की प्रतीक्षा अथवा करुणान्त पर छोड़ दिया गया है।

५. भाव-परिणीता रूप—इस रूप से हमारा तात्पर्य प्रेमचन्द के उन इने गिने नारी-पात्रों से है जिनका विवाह सामाजिक रीति-रिवाज के अनुसार नहीं अपितु मनोनीत भावनाओं के अनुरूप अनायास ही परस्पराकर्षण के कारण हो चुका है। समाज पहले तो इस रूप पर टिप्पणियाँ कसता है किन्तु धीरे-धीरे इनकी विवाह-सत्ता को स्वीकार कर लेता है क्योंकि कुछ भी तो इन्होंने समाज से गुप्त नहीं रखा होता। इसमें सन्देह नहीं कि ऐसे नारी-पात्रों को आजीवन समय तथा मानसिक द्वन्द्व झेलने पड़ते हैं किन्तु वे इसका कारण समझते हैं तथा परितुष्ट रहने का प्रयत्न करते हैं। चूँकि इन्होंने जीवन से बहुत अनुभव लिये होते हैं अतः इनके आदर्श भी वायवी तथा खोखले नहीं होते। सम्पूर्ण प्रेमचन्द-साहित्य में 'कायाकल्प' की लौंगी ही इस दृष्टि से प्रमुख स्थान रखती है।

मातृ-रूप

मातृरूप से तात्पर्य यहाँ केवल औरस पुत्रवती-रूप से ही नहीं है अपितु नारी का वह सहज मातृ हृदया रूप है जो किसी भी पुत्र को देख कर भंकृत हो उठता है। प्रेमचन्द के नारी-पात्रों में तीन प्रकार के मातृ-रूप की अभिव्यक्ति हुई है—

सहज वत्सल मातृ-रूप—पुत्र कैसा भी हो इस रूप में स्थान पाने वाली सहज वत्सलाएँ उसे चाहती हैं क्योंकि इन्होंने उसे जन्म दिया होता है रक्त द्वारा उसका पालन किया होता है और अपने साये में उसके पल्लवित होने की कामना की होती है। यही नहीं इन पात्रों में कुछ ऐसी पुत्रहीना विधवाएँ मातृहृदया वैधिकाएँ तथा विमाताएँ भी हैं जिनका वात्सल्य किसी भी माँ के पुत्र को देख कर डोल उठता है 'यह भी किसी का पुत्र है!' 'कायाकल्प' की निर्मला

कर्मभूमि' की सलोनी 'गबन' की जग्गो 'ईदगाह' कहानी की अमीना 'माता का हृदय' की माधवी 'ममता' की बुढ़िया 'मन्दिर' की सुखिया 'बेटों वाली विधवा' की फूलमती 'संग्राम' की सलोनी 'विमाता' की अम्मा 'अलग्योझा' की पन्ना 'दूध का दाम' की भूंगी तथा 'महातीर्थ' की कैलासी आदि पात्र इसी रूप में समाहृत होते हैं।

२ विशिष्ट मातृ-रूप—इस रूप के अन्तर्गत वे माताएँ स्थान पाती हैं जिन्होंने अवांछनीय पुत्रों से प्रेम करना नहीं सीखा है। अपने सपूतों से वे कर्तव्य साहस तथा देश प्रेम की माँग करती हैं उच्छृंखल तथा स्वच्छन्द प्रेम प्रदर्शन की नहीं। 'कर्बला' की भूमिका में नवविवाहित वहब की माँ कहती है "मी ख्वाहम कि मरा अब जूनेपुर सरकते शि ही ताकीरे कि अब पिस्ताने मन खुरदई बर तो हलाल बाद"—अर्थात् मेरी इच्छा है कि तू अपने रक्त का एक घूँट मुझे दे ताकि यह दूध जो तूने मेरे स्तन से पिया है तुझ पर हलाल हो जावे। इन सभी माताओं की लगभग ऐसी ही माँग है और यदि उसकी पूर्ति नहीं होती तो वे पुत्र का न होना अथवा मर जाना ही श्रेयस्कर समझती हैं। 'रंगभूमि' की जाह्नवी 'धिक्कार' कहानी की पुजारिन तथा 'वरदान' की सुवामा इसी विशिष्ट रूप में आती हैं।

३ यथाविभूत विमाता रूप—विमाता कभी स्वमाता अथवा कुमाता नहीं होती—नारी के इस दुहरे रूप को 'गृहदाह' कहानी की देवप्रिया में देखा जा सकता है। प्रेमचन्द ने माता के इस असामाजिक रूप का चित्रण अपनी प्रधान कृतियों में तो किया ही नहीं कहानियों में भी बहुत कम किया है।

राष्ट्रसेविका-रूप

प्रेमचन्द के नारी-पात्रों में राष्ट्र-सेविकाओं के दो रूप उभरे हैं।

१ कर्मप्रधान राष्ट्रसेविका रूप—इसके अन्तर्गत वे नारी-पात्र स्थान
ते हैं जो केवल सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से ही नहीं अपितु राष्ट्र-सेवा के व्याव
ारिक क्षेत्र में भी पुरुषों से पीछे नहीं हैं और घरेलू वातावरण से बाह
आकर उनसे भी अधिक सक्रिय योगदान देते हैं। त्याग तथा बलिदान की
प्रत्येक सम्भव क्षमता इनमें भरी पड़ी है। 'जेल' कहानी की मृदुला इस
प्रतिनिधि पात्र है। 'कर्मभूमि' की सुखदा का भी यही रूप सर्वाधिक उ
है। इसके अतिरिक्त 'शराब की दुकान' की मिसेज सक्सेना 'समरयात्रा
बूढ़ी नोहरी तथा 'पत्नी से पति' की गोदावरी भी इसी वर्ग में आती

विद्यावती 'निर्मला' की निर्मला तथा सुधा 'गोदान' की गोविन्दी देवी, 'प्रतिज्ञा' की सुमित्रा 'गबन' की रतन 'सेवासदन' की सुमन 'कर्मभूमि' की मुन्नी 'रंगभूमि' की इन्दु, 'कुसुम' कहानी की कुसुम (जिसे पता नहीं क्यों था सत्येन्द्र ने विद्रूप मार्ग पर चलने वाली कह दिया है) 'वेश्या' की सीता 'सोहाग का शव' की सुभद्रा 'निर्वासन' की मर्यादा संग्राम (नाटक) की रानी तथा 'गोदान' की सोना आदि ऐसी ही बेकसूर तिरस्कृताएँ हैं जिन्हें विवशताओं को स्वीकार करते हुए उनके सुधार की प्रतीक्षा अथवा कष्टसाध्य पर छोड़ दिया गया है।

५ भाव-परितोषित रूप—इस रूप से हमारा तात्पर्य प्रेमचन्द के उन गिने-चुने नारी-पात्रों से है जिनका विवाह सामाजिक रीति रिवाज के अनुसार नहीं अपितु मनोनीत भावनाओं के अनुरूप अनायास ही परस्पराकर्षण के कारण हो चुका है। समाज पहले तो इस रूप पर टिप्पणियाँ कसता है किन्तु धीरे-धीरे इनकी विवाह-सत्ता को स्वीकार कर लेता है क्योंकि कुछ भी तो इन्होंने समाज से गुप्त नहीं रखा होता। इसमें सन्देह नहीं कि ऐसे नारी-पात्रों को आजीवन संघर्ष तथा मानसिक द्वन्द्व झेलने पड़ते हैं किन्तु वे इसका कारण समझते हैं तथा परितुष्ट रहने का प्रयत्न करते हैं। चूँकि इन्होंने जीवन से बहुत अनुभव लिये होते हैं, अतः इनके आदर्श भी वायवी तथा खोखले नहीं होते। सम्पूर्ण प्रेमचन्द-साहित्य में 'कायाकल्प' की लौंगी ही इस दृष्टि से प्रमुख स्थान रखती है।

मातृ-रूप

मातृरूप से तात्पर्य यहाँ केवल औरस पुत्रवती-रूप से ही नहीं है अपितु नारी का वह सहज मातृ हृदया रूप है जो किसी भी पुत्र को देख कर झंकृत हो उठता है। प्रेमचन्द के नारी-पात्रों में तीन प्रकार के मातृ-रूप की अभिव्यक्ति हुई है—

सहज वत्सल मातृ-रूप—पुत्र कैसा भी हो इस रूप में स्थान पाने वाली सहज वत्सलाएँ उसे चाहती हैं, क्योंकि इन्होंने उसे जन्म दिया होता है रक्त द्वारा उसका पालन किया होता है और अपने साये में उसके पल्लवित होने की कामना की होती है। यही नहीं इन पात्रों में कुछ ऐसी पुत्रहीना विधवाएँ मातृहृदया सेविकाएँ तथा विमाताएँ भी हैं जिनका वात्सल्य किसी भी माँ के पुत्र को देख कर सोच उठता है, 'यह भी किसी का पुत्र है!' 'कायाकल्प' की निर्मला

'कर्मभूमि' की सलोनी 'गबन' की जग्गो 'ईदगाह' कहानी की अमीना 'माता का हृदय' की माधवी 'ममता' की बुढ़िया 'मन्दिर' की सुखिया 'बेटों वाली विधवा' की फूलमती 'संग्राम' की सलोनी 'विमाता' की अम्मा 'अलग्योझा' की पन्ना 'दूध का दाम' की भूँगी तथा 'महातीर्थ' की कैलासी आदि पात्र इसी रूप में समाहृत होते हैं।

२ विशिष्ट मातृ-रूप—इस रूप के अन्तर्गत वे माताएं स्थान पाती हैं जिन्होंने यथाकालीन पुत्रों से प्रेम करना नहीं सीखा है। अपने सपूतों से ये कर्तव्य साहस तथा देश प्रेम की माँग करती हैं अन्धानुराग तथा स्वच्छन्द प्रेम प्रदर्शन की नहीं। 'कर्बला' की भूमिका में नवविवाहित वहब की माँ कहती है "मी ख्वाहम कि मरा अज जूए खूँ बरबसे दिही ताकीरे कि अज पिस्ताने मन ज़ुरई बर तो हलाल गर्दद' —अर्थात् मेरी इच्छा है कि तू अपने रक्त का एक घूँट मुझे दे ताकि यह दूध जो तूने मेरे स्तन से पिया है तुझ पर हलाल हो जाये। इन सभी माताओं की लगभग ऐसी ही माँग है और यदि इसकी पूर्ति नहीं होती तो वे पुत्र का न होना अथवा मर जाना ही श्रेयस्कर समझती हैं। 'रंगभूमि' की जाह्नवी 'धिक्कार' कहानी की पुजारिन तथा 'वरदान' की सुवामा इसी विशिष्ट रूप में आती हैं।

३ यथाविधुत विमाता रूप—विमाता कभी स्वमाता अथवा सुमाता नहीं होती—नारी के इस गृहदाहक रूप को 'गृहदाह' कहानी की देवप्रिया में देखा जा सकता है। प्रेमचन्द ने माता के इस असामाजिक रूप का चित्रण अपनी प्रधान कृतियों में तो किया ही नहीं कहानियों में भी बहुत कम किया है।

राष्ट्रसेविका-रूप

प्रेमचन्द के नारी-पात्रों में राष्ट्र-सेविकाओं के दो रूप उभरे हैं।

१ कर्मप्रधान राष्ट्रसेविका-रूप—इसके अन्तर्गत वे नारी-पात्र स्थान पाते हैं जो केवल सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से ही नहीं अपितु राष्ट्र-सेवा के व्यावहारिक क्षेत्र में भी पुरुषों से पीछे नहीं हैं और घरेलू वातावरण से बाहर आकर उनसे भी अधिक सक्रिय योगदान देते हैं। त्याग तथा बलिदान की प्रत्येक सम्भव क्षमता इनमें भरी पड़ी है। 'जेल' कहानी की मृदुला इनमें प्रतिनिधि पात्र है। 'कर्मभूमि' की सुखदा का भी यही रूप सर्वाधिक उभरा है। इनके अतिरिक्त 'शराब की दूकान' की मिसेज सक्सेना 'समरयात्रा' की वृद्धा नोहरी तथा 'पत्नी से पति' की गोदावरी भी इसी सन्दर्भ में आती हैं।

२ विचारप्रधान राष्ट्रसेविका-रूप—इस उपवर्ग के अन्तर्गत उन नारी पात्रों को रखा गया है जिनमें राष्ट्र के प्रति राग उत्साह एवं त्याग की भावना तो विद्यमान है किन्तु गार्हस्थ्य परम्पराओं अथवा अन्य विवशताओं के कारण उनका कर्मक्षेत्र घर तक ही सीमित रहता है। 'जान' कहानी की अम्मा तथा 'सोहाग की साड़ी' की गौरा ऐसी ही राष्ट्रसेविकाएँ हैं।

विधवा-रूप

प्रेमचन्द के विधवा-पात्रों को दो उपवर्गों में विभाजित किया जा सकता है—

१ आजीवन विधवा-रूप—जो नारी-पात्र जीवन भर वैधव्य भोगते हैं वे इस नारी-रूप के अन्तर्गत आते हैं। ये नारी पात्र भी दो प्रकार के हैं—

(अ) प्रौढ़ाएँ—इन पात्रों का वैधव्य ही प्रौढ़ावस्था का हुआ है अतः शारीरिक भूख अथवा पुनर्विवाह का तो प्रश्न ही इनके विषय में नहीं उठता। ये विधवाएँ प्रायः ऊँचे घरानों से सम्बन्ध रखने वाली हैं और पति-स्मृति पुत्र प्रेम अथवा धनसम्पत्ति आदि जीने के सुसंस्कृत आधार भी इनके पास विद्यमान हैं। 'कायाकल्प' की वागीश्वरी 'निर्मला' की कल्याणी तथा 'कर्मभूमि' की रेणुका आदि ऐसी ही विधवाएँ हैं। इनमें 'रंगभूमि' की जाह्नवी तथा रुक्मिणी आदि ऐसी भी हैं जो ईर्ष्या एवं लोभ को ही जीवन के अवलम्ब-रूप में ग्रहण करती हैं।

(ब) वैधव्यमयी नवयौवनाएँ—इनके सामने समस्या है कि ये जियें भी तो किसके लिए। इनमें अधिकांश ऐसी हैं जिन्हें विधवा होने तक पति के वास्तविक स्वरूप का परिचय तक नहीं मिला होता और ऐसी भी हैं जिनका पति चन्द रोज का मेहमान रह कर अभागी विधवा को सदा के लिए उस अपर्याप्त स्मृति को छोड़ गया होता है जो कि उसके शेष जीवन का आधार बनने में असमर्थ रहती है। 'प्रेमाश्रम' की गायत्री 'विचार' की मानी और 'नैराश्यलीला' की कैलासकुमारी ऐसी ही विधवाएँ हैं। बहुत अस्वाभाविक नहीं है कि ये प्रायः दुःखान्त को प्राप्त होती हैं।

२ पुनर्विवाहिता-रूप—इस रूप के अन्तर्गत विधवाओं का 'गोदान' की झुनिया तथा 'त्यागी का प्रेम' की आनन्दी की भाँति अपना पुनर्विवाह भी हो सकता है तथा 'सुभागी' की सुभागी 'अलग्योझा' की पुत्रवती मुलिया एवं 'स्वामिनी' की गतयौवना प्यारी तक का परिणयन भी सम्भाव्य है।

कामिनी-रूप

(कामिनी शब्द ही उस रमणी का द्योतक है जिसकी अन्तर्वृत्तियों तथा बाह्य चेष्टाओं पर कामभावना एवं तज्जन्य उच्छृंखलता राज्य करती है। वैसे तो ऐसी नारी कभी बहुत-कुछ महान् भी सोच सकती है किन्तु वृत्तियों की अस्थिरता के कारण उसे क्रियान्वित कभी नहीं कर पातीं। प्रेमचन्द के नारी-पात्रों में दो प्रकार से कामिनी-रूप को देखा जा सकता है—

१ पाश्चात्य अथवा पाश्चात्य सभ्यता से प्रतिभासित नारी रूप—नारी के इस तथाकथित सभ्यवर्गीय आकार छैल-छबीले बाहर से भड़कीले तथा भीतर से खोखले—बीसवीं शताब्दी के फैशनेबल रूप के अन्तर्गत 'दो सखियों' की पद्मा 'धर्मसंकट' की कामिनी 'कैदी' की हेलेन 'उन्माद' की जेनी 'विनोद' की लूसी तथा 'गोदान' की सरोज आदि नारी-पात्र आते हैं।

२ उत्कट कामपीड़िता-रूप—'ज्वालामुखी' की सुन्दरी तथा 'नया विवाह' की लीला का तो अन्तिम प्रभाव तक उत्कट कामपीड़िताओं का-सा ही रहता है। सम्पूर्ण प्रेमचन्द-साहित्य में यही दो पात्र अपवाद-स्वरूप में चित्रित हुए हैं।

शेष—'वरदान' की सेवती तथा 'कायाकल्प' की मंगला आदि अभिमानिनी 'निर्मला' की भुंगी तथा 'कायाकल्प' की गुजराती आदि साधारण सेविकाएँ 'लांछन' की बेटी 'आभूषण' की शीतला 'नरक का मार्ग' की प्रधान पात्री 'गोदान' की नोहरी तथा 'प्रेमाश्रम' की गोमी आदि विकृत पत्नियाँ 'सेवासदन' की जोहराजान महबूबजान जुहरबाई रामप्यारी 'वेश्या' की माधवी तथा 'गबन' की जोहरा आदि दुराचारोन्मुखी वेश्याएँ एवं 'गोदान' की भील युवती आदि प्रसंगवश आगत नारी-पात्र अत्यन्त गौण पात्रों की श्रेणी में आते हैं। प्रेमचन्द की नारी-भावना के विकास में इनका विशेष महत्त्व नहीं है।

प्रेमचन्द के विशिष्ट नारी-पात्रों का चरित्र-चित्रण

(क) प्रेमिका-रूप

प्रेमा

यद्यपि 'प्रतिज्ञा' उपन्यास के नारी-पात्रों में से सुमित्रा ने ही अधिकांश आलोचक-दृष्टियों को आकर्षित किया है तथापि इसमें संदेह नहीं कि प्रेमचन्द की नारी भावना के अनुरूप आदर्शतम और पात्र-विकास की दृष्टि से सर्वाधिक विकासशील पात्र यहाँ यही प्रेमा है जिसके नाम पर ही उपन्यास का पहला नामकरण हुआ था। सुमित्रा और पूर्णा में तो नारी जीवन की एकांगी अभिव्यक्ति हुई है। एक में मान ही मान और सैद्धान्तिक निष्क्रियता है तो दूसरी में स्वयमेव कर्दम की फिसलनों से सुरक्षित बच निकलने की आवश्यक क्षमता नहीं है। प्रेमा ही एक ऐसा पात्र है जिस में गति है संघर्ष है और जीवन के समझौते की व्यापक क्षमता विद्यमान है।

प्रेमा मूलतः प्रेमिका ही है। अपनी दीदी की मृत्यु के उपरान्त सम्भवतः उसके पूर्व ही से वह अमृतराय की ओर आकृष्ट है। अमृतराय के मित्र दाननाथ से उसके विवाह की चर्चा अमृतराय की विवाहितावस्था में भी चली थी और यह अत्यन्त स्वाभाविक था कि उसकी दृष्टि उस ओर केन्द्रित होती किन्तु ऐसा नहीं हुआ। विधुर अमृतराय ही अब उसके दृष्टि-बिन्दु हैं और उन्हीं के साथ उसका कोमल पत्र-व्यवहार भी चलता है। प्रेमिका के साथ-साथ ही वह उनकी मंगेतर भी बन जाती है। पर सहालग में विवाह होने की तैयारियाँ हो ही रही होती हैं कि भावुक और आदर्शवादी अमृतराय किसी समाजसुधारक की वक्तृता के प्रभाव-स्वरूप सहसा किसी विधवा से विवाह करने की प्रतिज्ञा ले लेते हैं। "प्रेमा कितनी विचारशील है यह उन्हें मालूम था। उनके साहस का समाचार सुन कर वह उनका तिरस्कार नहीं अपितु और भी सम्मान करेगी यह भी उन्हें ज्ञात था। उधर प्रेमा का हृदय काँप उठता है। "तीन साल अमृतराय को अपने हृदय-मन्दिर में स्थापित करके वह पूजा करती चली आई थी उस मूर्ति को उसके हृदय से कौन निकाल सकता था!" किन्तु उसे मानना ही पड़ता है कि उसके भगवान् सभी के भगवान् हैं और कहना ही पड़ता है

"नहीं अम्मा जी आपके पैरों पड़ती हूँ आप उनसे कुछ नहीं कहियेगा। उन्होंने हमारी बहनों की खातिर तो यह प्रतिज्ञा की है। हमारे यहाँ कितने ऐसे पुरुष हैं, जो इतनी वीरता दिखा सकें? मैं इस शुभ कार्य में बाधक न बनूँगी। परिणाम-स्वरूप उसकी प्रेम भावना में त्याग भावना का समावेश होता है और उसका दाप जीवन उसी प्रेम के कण्टकित मार्ग में सेवा-स्नेह से त्याग-रूपी दीपक को आलोकित रखने में लगा रहता है।

त्यागिनी प्रेमा कुल-प्रथा पर मर-मिटने वाली सच्ची आर्य रमणी है "उसकी चलती तो वह अविवाहिता ही रहना पसन्द करती किन्तु कुल-प्रतिष्ठा भी उससे त्याग की माँग करती है। ऐसी अवस्था में उसके लिए सभी पुरुष समान थे वह किसी के साथ भी जीवन का निर्वाह कर सकती थी।" परिणाम-स्वरूप दाननाथ से उसका विवाह हो जाता है।

प्रेमा विलासिनी नहीं है। वह आदर्श हिन्दू पत्नी है। पति के घर जाकर वह पति की हो जाती है। "अब अमृतराय उसके लिए केवल एक स्वप्न की भाँति थे जो उसने कभी देखा था।" पति को कर्तव्य ही नहीं अपितु प्रेम भी देती है। गृहस्थी की अवस्था में उसके आगमन से बहार आ जाती है। बेशक दाननाथ धनी नहीं है किन्तु प्रेमा को धन से मोह नहीं है। बचे हुए रुपये वह सास के हाथ में रख देती है जिससे उस वृद्धा को गृहस्वामिनी होने का आनन्द तो मिलता ही है अपनी सुगृहिणी बहू पर नाज भी कम नहीं होता।

प्रेमा का सतीत्व घर में है किन्तु उसकी करुणा उसकी कोमलता उसकी ममता और उसकी सेवा-भावना घर से बाहर भी है। मंच पर खड़ी होकर वह विक्षुब्ध जनता में वनिता-भवन खोलने का समर्थन करती है। एक दर्शक द्वारा जब व्यंग्य होता है कि दाननाथ जी तो इसके विरोधी हैं तो वह कहती है "पिता हो पति हो अथवा भाई हो यदि उसने इस सभा में विघ्न डालने का कोई प्रयत्न किया है तो मैं उसके इस काम को हेय समझती हूँ।" वह दिखा देती है कि सार्वजनिक परमार्थ के लिए व्यक्तिगत स्वार्थों को ताक पर रख देना ही श्रेयस्कर होता है।

यह सब कुछ तो है किन्तु प्रेमा के व्यक्तिगत जीवन में उलझन भी कम नहीं। दाननाथ को अब भी यही शंका बनी हुई थी कि प्रेमा को अमृतराय से प्रेम है। "बार-बार प्रेमा को उनकी यह भावना चुभती है। वे बातें जो हृदय को मसले रहने पर भी उसके मुख से न निकलने पाती थीं—कर्तव्य और संयम जिन्हें अन्दर ही दबा देती थीं—आँसू बन कर निकल पाती थीं। किन्तु वह त्याग एवं प्रतीक्षा का दामन नहीं छोड़ती। और एक दिन जब

दाननाथ आकर उससे कहते हैं 'न जाने मेरी बुद्धि पर क्यों ऐसा पर्दा पड़ गया कि अपने अनन्य मित्र पर ऐसे सन्देह करने लगा' तो प्रेमा का मनोमालिन्य बह जाता है। वह जान जाती है कि त्याग ही वह शक्ति है जो हृदय पर विजय पा सकती है। अब तक प्रेमा ने दाननाथ का जो स्वरूप देखा था वह एक दम्भी द्वेषी विचारहीन कुटिल मनुष्य का था। अगर वह चरित्र देख कर भी वह दाननाथ का आदर करती थी तो इसका कारण वह प्रेम था जो दाननाथ को उससे था। आज उसने उनके शुद्ध अन्तःकरण की झलक देखी। वह मुँह से कुछ न बोली पर उसका एक-एक रोम पति को आशीर्वाद दे रहा था।

प्रेमा अब शान्त भी है सन्तुष्ट भी किन्तु एक रहस्य का छोर अभी तक उसे नहीं मिला। वह यह जान गई है कि प्रेम का अर्थ ही पति प्रेम है और यह भी कि प्रेम को त्याग और सेवा ही परिपुष्ट करते हैं किन्तु अमृतराय से उसका कौन-सा नाता है—यह एक रहस्य है। इस रहस्य में बहुत पवित्रता है फिर भी वह बार-बार उसे खींचता है। यह ठीक है कि अमृतराय अपनी स्वाभाविक त्यागानुप्राणित भावना के ही कारण दाननाथ की खोयी हुई प्रतिष्ठा को वापस लाने के लिए उस पर लेख लिखते हैं, परन्तु उस लेख का एक-एक शब्द प्रेमा के हृदय में ऐसी कल्पनाओं को क्यों उभारता है जिन्हें वह चाहती है कि न उठें। वह पत्र के टुकड़े-टुकड़े क्यों करती है और क्यों सोचती है कि 'जो पंख पक्षी को जाल के नीचे बिखरे हुए दानों की ओर ले जाय उनका उखड़ जाना ही अच्छा है।" वस्तुतः प्रेमा यह विस्मृत कर देना चाहती है कि विवाह से पूर्व उसने कोई सुहाना स्वप्न देखा था। किन्तु सच तो यह है कि उसी के सहारे ही उसका पतिप्रेम पनपता है, उसी की प्रेरणा से ही वह त्याग एवं सेवा की ओर उन्मुख होती है और उसी के आलोक में ही वह कर्तव्य पथ पर अग्रसर पगों से चलने में समर्थ होती है। कहने का तात्पर्य यही है कि प्रेमा मूलतः प्रेमिका ही है और उसके चरित्र की सब व्यापकता इसी एक भावना का प्रसार-मात्र है। इस प्रकार के चित्रण में लेखक की प्रारम्भिक अपटुता तो कई स्थानों पर स्पष्ट दीख जाती है किन्तु इसकी विशेषता यह है कि इसी के द्वारा प्रेमा विरजन सुशीला गौरा और मनोरमा के चरित्रों में एक विकास का अद्भुत तारतम्य बँध जाता है।

विरजन

'प्रतिज्ञा' की प्रभा की किंचित् परिष्कृति ही 'वरदान' की विरजन है। प्रेमचन्द की नैतिक भावनाओं को यहाँ पहुँच कर मनोविज्ञान का पुट मिलने लगता है साथ ही स्त्री-शिक्षा-सम्बन्धी तत्कालीन युग की माँग भी यहाँ अभिव्यक्त हुई है।

शैशव से ही विरजन में सेवा-संस्कार विद्यमान हैं। अपने बालसुलभ के साथी प्रताप की रुग्ण माता की सेवा अत्यन्त तन्मयता से वह उस अवस्था में करती है जबकि उसे 'रात को सोकर भोर में उठा कर घर ले जाता है। उसी की सेवा भावना ही एक गुण के रूप में आजीवन उस पर सवार रहती है। साथ ही विद्या की ओर भी वह बचपन से ही आकृष्ट है। एक नन्हें पत्र में अपने पिता जी को वह लिखती है "मनुष्य को चाहिए कि विद्या धन-मन से एकत्रित करे। विद्या से सब दुख दूर हो जाते हैं।" एक तीसरी भावना की कोमलता भी बचपन से ही विरजन के मन में घर किये हुए है—प्रताप को वह बहुत चाहती है। उसे नहीं पता, वासना क्या होती है उसे अभी यह भी पूर्णतः ज्ञात नहीं कि विवाह के बन्धन कैसे होते हैं किन्तु वह सोचती अवश्य है कि "जब प्रताप से मेरा विवाह हो जायेगा बड़े आनन्द से रहूँगी"। इन तीनों भावनाओं का आयु तथा परिस्थितियों के अनुसार प्रसार ही है विरजन का चरित्र।

विरजन की सेवा-भावना ही ग्राम्य जीवन के प्रति उसे व्यापक सहानुभूति देती है। जहाँ ग्राम्य जीवन की निश्छलता एवं प्राकृतिक शोभा उसे आकृष्ट करती है वहाँ वास्तविकता को जान कर उसे दुख भी होता है कि 'क्या मुन्शी जी और क्या देखती हूँ। टूटे फूटे फूस के झोंपड़े मिट्टी की दीवारें, घरों के सामने कूड़-करकट के बड़े-बड़े ढेर कीचड़ में लिपटी हुई भैंसें दुर्बल गायें—ये सब दृश्य देख कर जी चाहता है कि कहीं चली जाऊ। मनुष्यों को देखो तो उनकी शोचनीय दशा है। हड्डियाँ निकली हुई हैं, जैसे विपत्ति की मूर्तियाँ और दरिद्रता के जीवित चित्र हैं। किसी के शरीर पर एक बेफटा वस्त्र नहीं है और कैसे भाग्यहीन कि रात-दिन पसीना बहाने पर भी कभी भरपेट रोटियाँ नहीं मिलतीं।" इन्हीं सेवा-संस्कारों के कारण ही वह सुशीला माधवी की ओर आकृष्ट होती है और उसके चरित्र में त्याग विश्वास तथा सेवा का संचार करती है इन्हीं के कारण बालाजी के प्रति उसकी श्रद्धा प्रभावशाली कविता के रूप में उमड़ पड़ती है और माधवी जैसी सेवाव्रतधारिणी को उनके उपहार के रूप में तैयार करती है इन्हीं के कारण वह कुशल गृह-वधू की सफलता

को प्राप्त होती है और इन्हीं के कारण ही उसमें उस सहनशीलता का संचार होता है जिसके सहारे वह एक कुलीन विधवा का आदर्श जीवन-यापन करती है।

विरजन के मन में जब प्रताप से विवाह करने की इच्छा उठी थी तब दाम्पत्य सम्बन्ध उसके समक्ष स्पष्ट नहीं था किन्तु अब जब कि उसकी अवस्था भी वह नहीं रही और प्रताप से नहीं अपितु कमलाचरण जैसे अशिष्ट व्यक्ति से उसका विवाह हो जाता है तो उसे 'स्मरण हो जाता है कि एक अपराध मुझसे ऐसा हुआ है जिसकी कालिमा को मैं मिटा नहीं सकती।" जब तक वह सुसराल न आयी थी तब तक उसकी दृष्टि में हिन्दू पतिव्रता के कर्तव्य और आदर्श का कोई नियम स्थिर न हुआ था किन्तु अब उसे "ज्ञात हुआ कि मैं कौन हूँ और मेरा क्या कर्तव्य है मेरा क्या धर्म है और क्या उसके निर्वाह की रीति है।" यह सोचकर विरजन प्रेम की पहली बातों को स्वप्न मान कर कर्तव्य को उससे ऊपर रख कर देखती है और धीरे-धीरे अपनी सम्पूर्ण भावनाओं को भी पति ही की ओर उन्मुख करती है। प्रताप के प्रति प्रेम से जो आघात वेदना उसे मिलती है उसी के फलस्वरूप से वह स्वयं की प्रेरणा ग्रहण करती हुई पूर्ण पतिव्रता बन जाती है। वह जानती है कि उसके पति ने ही घर में चोरी की है किन्तु महाराजिन द्वारा वह उसका विरोध नहीं पिटने देती प्रेम-शक्ति द्वारा ही वह पति के बहुत-से दुर्व्यसनों का निवारण करती है। उसके प्रेम की विशेषता यही है कि वह धर्म और कर्तव्य की नींव पर स्थित है। 'एक (कमला) प्रेम का दास है तो दूसरी (विरजन) कर्तव्य की दासी है।"
किन्तु विरजन के प्रेम का दूसरा पक्ष भी है जो इतना पावन है कि उस पर उसका कोई वश ही नहीं चलता। प्रताप उससे जब रुष्ट होता है मानो जीवन ही उससे रूठ जाता है। वह प्रताप को सदा ऊँचा उठते ही देखना चाहती है और निस्संदेह प्रताप के बालाजी बनने के मूल में विरजन का प्रेम ही विद्यमान है। वस्तुतः विरजन प्रताप के प्रति भी उतनी ही सच्ची है जितनी कि पति की ओर एकनिष्ठ और विरजन के चरित्र की गरिमा भी इसी में निहित है।

विधवा विरजन वैधव्य के उच्चतम आदर्श को सँभाले रहती है। पति के थोड़े ही दिनों के बाद जब कमलाचरण की जान लेते हैं तो उसे ऐसे व्यंग्य भी सुनने पड़ते हैं कि 'तुम्हारे जिसने रूप ने मुझे ठग लिया' मैं क्या जानती थी कि तुम्हारे चरण इतने अशुभ हैं।" किन्तु विरजन को तो यातनाएँ सह कर भी जीना है। पति की मार, लालाजी के प्रति श्रद्धा अथवा कविता की मरणासन्न-स्थिति उसे नहीं पता कि तीनों में कौन-सी शक्ति उसके प्राणों को थामे हुए है। उसे तो

इतना ही पता है कि "अपने पीछे कदम पर एक ऐसा तेज रखना है दृष्टि में एक पवित्रता भरी रखनी है जो दुश्चेष्टाओं को क्षण-मात्र में भस्म कर दे। प्रताप के लिए, माधवी के लिए अथवा किसी भी अन्य के लिए शुभकामनाओं अथवा सद्प्रेरणाओं के अतिरिक्त और उसके पास है ही क्या!

विरजन 'विदुषी वृजरानी' भी है। मन का बोझ हल्का करने के लिए उसकी अभिव्यक्ति अनिवार्य हो जाती है। विरजन को यह आधार कविता के रूप में मिलता है। "अन्य कवियों के मनों में मित्रों की वाह-वाह और काव्य-प्रेमियों के साधुवाद से उत्साह पैदा होता है पर विरजन अपनी दुःख-कथा अपने ही मन को सुनाती है।" उसकी कविता हृदय की सच्ची अनुभूतियों की स्वाभाविक सुकाव अभिव्यक्ति है जिसमें ऊँचे विचार हैं 'भावा' है भावोत्कर्ष है और 'एक शब्द में नवविकसित पुष्पों की शोभा और हिमकणों की शीतलता विद्यमान है जिसके सम्पर्क में आते ही हृदय के दुःख की एक धारा और प्रेम रहस्य की एक कथा स्पष्ट हो जाती है। उसकी कविता में लोक-मंगल की भावना का समावेश है।

आदर्श हिन्दू नारी होते हुए भी विरजन को अन्ध-परम्पराओं से मोह नहीं है। ग्राम-जीवन की प्रगति में अन्धविश्वासों को वह एक बहुत बड़ी बाधा समझती है। ग्राम-जीवन की प्रगति में अन्धविश्वासों को वह एक बहुत बड़ी बाधा समझती है। "कैसी मूर्खता है! कैसी मिथ्या भक्ति है! वह सोचती है 'ये भावनाएँ इनके हृदय पर अवलम्बित हो चुकी हैं। बालक बीमार हुआ कि भूत की पूजा होने लगी। खेत खलिहान में भूत का भाग ब्याह आदि में भूत का भाग जहाँ देखिये भूत ही भूत दीखते हैं। यहाँ न देवी है न देवता' भूतों का ही साम्राज्य है। यमराज यहाँ चरण नहीं रखते अब ही जीवहरण करते हैं। इन भावों का किस प्रकार सुधार हो?"

इस प्रकार विरजन का चरित्र मानवीय मूल्यों पर आधारित है किन्तु साथ ही युग-परिस्थितियों का थोड़ा-बहुत अंकन करने का प्रयत्न भी प्रेमचन्द ने यहाँ किया है। सेवा त्याग श्रम और पातिव्रत मानवीय मूल्य हैं तो स्त्री-शिक्षा की आवश्यकता कृषक-जीवन की दरिद्रता तथा अन्धविश्वासों का उन्मूलन तत्कालीन समस्याएँ हैं।

सोफ़िया

'रंगभूमि' की निरंतरता में कवितामयी सोफ़ी आदर्श के आकर्षक कगारों में मानवता की दिशा में प्रवाहित होने वाली रसधारा है। सोफ़िया शब्द का

सामयिक धर्म ईसाभाव से अथवा वयायुक्त होने से सम्भव हो सकता है किन्तु नामकरण म गुणानुरूपता प्रेमचन्द के पात्रों में प्रायः नहीं है। मध्यवर्ग एवं ग्रामीण समाज नहीं सोचते यह सब। युग-धर्म ही प्रेमचन्द की कृतियों में बहुधा प्रतिबिम्बित हुआ है। स्वयं प्रेमचन्द का कथन है तथा बहुत सम्भव भी है कि सोफ़िया की प्रेरणा उन्हें एनी बेसंट से मिली हो।

सोफ़िया के चरित्र के विषय में बहुत मत भेद है जिसका कारण पूर्वाग्रह अधिक सहृदयता न्यून और अवेक्षणात्मक विचार-शक्ति की निष्पक्षता न्यूनतम है। यदि उसकी स्वतन्त्र सत्ता का विनय का स्त्री-संस्करण[1] मात्र कह कर प्रत्याख्यान कर दिया गया है तो प्रेमचन्द के नारी-पात्रों में 'सर्वाधिक स्पष्ट एवं रोचक'[2] तथा 'आदर्श बालिका'[3] भी सोफ़ी को ही ठहराया गया है। चरित्रांकन में जब हम लेखक की धारणाओं उसकी अनुभूतियों उसकी परिस्थितियों एवं चित्रण-विशेषताओं से विरक्त होकर अपने ही मान-दण्डों के आधार पर पात्र के गुण-दोषों का विवेचन-विश्लेषण करने लगते हैं तब उसका परिणाम हमारी अपनी भावनाओं का ही उपस्थापन-मात्र होता है—उसमें वस्तुपरकता नहीं रह जाती।

इसमें कोई संशय नहीं कि रंगभूमि में सोफ़िया की स्वतन्त्र सत्ता की छाप विद्यमान है। विनय की प्रतिलिपि-मात्र वह नहीं है। इतना ही कहा जा सकता है कि कल्पना प्रवणता की दृष्टि से प्रभु सेवक स साम्य होने पर भी उसकी चारित्रिक विशेषताएँ अन्य पात्रों की अपेक्षा विनय के अनुकूल समीप हैं। कारण यह है कि दोनों का दृष्टिकोण गांधी-युगीन मानवतावादी है। धर्म हो या प्रेम समाज हो या व्यक्ति—सभी के प्रति सोफ़ी की अपनी मान्यताएँ हैं जो सभी प्रकार से प्रेमचन्द ही की भाँति व्यापक हैं। विनय के सम्पर्क में आने से पूर्व भी सोफ़िया सूरदास के प्रति वैसी ही सहानुभूति रखती है जितनी कि बाद में। तब भी उसे अहिंसा एवं मानवीय समानता दुर्भाग्य प्रतीत होते थे उसकी धर्म-बुद्धि की आस्था तब भी तर्क-शून्य नहीं थी आत्म-स्वातन्त्र्य तब भी वह इतनी थी कि इसके हेतु घर की घुटन ही उसे सह्य नहीं होती विनय-मिलन से पूर्व भी देश प्रेम क बिहाग म योगदान की उसकी इच्छा जागृत होती है और इन्हीं परिस्थितियों म अनायास ही जब वह विनय क सम्पर्क में आती है

---

1 मन्मथनाथ गुप्त 'रंगभूमि पर नई दृष्टि' (निबन्ध)

2 ब्रजरत्नदास हिन्दी उपन्यास-साहित्य

3 शिवनारायण श्रीवास्तव हिन्दी-उपन्यास

तो स्वाभाविक साम्य ही दोनों को बाँध लेता है। प्रेम में जो विषयासक्ति
निहित होती है सोफ़ी के प्रेम में प्रारम्भिक आकर्षण का कारण वह नहीं है।
विनय से मिलने से पूर्व भी वह सिर से पाँव तक चेतना-ही-चेतना थी वह का
कहीं आभास तक न था और अन्त तक उपन्यास की यह चेतना पाठक के ऊपर
छायी रहती है। हृदय-समर्पण उसने किया है आत्म-स्वातन्त्र्य नहीं। विनय की
भर्त्सना भी नहीं करती है। वस्तुतः विनय भूखा है तो सोफ़ी प्यासी है—यही
साम्य और यही अन्तर है दोनों में।

सोफ़िया के चरित्र का अत्यन्त सबल पक्ष है उसका मानवतावादी दृष्टिकोण
जो मत-साम्य न होकर विशद अध्ययन एवं समकालीन विषम परिस्थितियों के
कारण स्वयमेव ही उसके सहज-सरल व्यक्तित्व में संस्कार-सा बन गया है।
मानवतावादी का दावा मौलिकता का नहीं होता। मानव-कल्याण एवं मान
वीय समानता के हेतु वह विश्व-भर की मान्यताओं को विराट स्तर पर समन्वित
देखना चाहता है। हिंसात्मक साधनों को वह हेय समझता है। आशा की डोर
से बँधी हुई ऐक्य की कल्पना उसे अनुप्राणित करती रहती है पाश्चात्य मान
वतावाद पहले आस्तिक नहीं था। गांधीजी ने ईश्वर अध्यात्म का पुट देकर
उसका संस्कार किया। आध्यात्मिक मानवतावाद के इसी युग की उपज है
सोफ़िया। उसके व्यक्तित्व में समन्वय है कथन और कर्म का आदर्श और
यथार्थ का शरीर और प्राण का। व्यक्तिगत रूप में उसने हृदय और बुद्धि में
सामंजस्य रखने का भी भरसक प्रयत्न किया है। धर्म का प्रश्न उठता है तो
सोफ़ी सोचती है कि जो सत्य है वह शाश्वत है प्रत्येक समय प्रत्येक स्थान पर
समान है। ईश्वर स्वयं सत्य-स्वरूप है। एक ही आत्मतत्त्व जब समस्त ब्रह्माण्ड
में अनुस्यूत है तो प्राणि-लोक में असमानता क्यों ईसाई ईसाई में अन्तर क्यों
ईसाई-हिन्दू में अन्तर क्यों और हिन्दू हिन्दू में अन्तर क्यों ? हम तो प्रत्येक
का कर्तव्य है करणीय है। और सोफ़िया को ज्ञात होता है कि असमानता की
इन भावों का कारण साम्प्रदायिकता है धर्म-संकीर्णता है। कट्टर पन्थियों
के अन्धविश्वासों ने महात्माओं के उपदेशों में असंगत व्याख्याएँ भर दी हैं।
इसलिए 'सोफ़िया सत्यान्वेषण के निरूपण में सर्वत्र रत रहती है। धर्म-तत्त्वों को
बुद्धि की कसौटी पर कसना उसका स्वाभाविक गुण है और जब तक तर्क-बुद्धि
स्वीकार न करे वह केवल धर्म-ग्रन्थों के आधार पर किसी सिद्धान्त को नहीं
मान लेती है। स्वयं कहती है वह 'महात्मा ईसा के प्रति मेरे मुँह से कोई
अनुचित शब्द नहीं निकला मैं उन्हें धर्म-त्याग और सद्विचार का अवतार सम
झती हूँ लेकिन उनके प्रति श्रद्धा रखने का यह आशय नहीं है कि भक्तों ने

उनके उपदेशों में जो असंगत बातें भर दी हैं या उनके नाम से जो विभूतियाँ प्रसिद्ध कर रखी हैं, उन पर भी ईमान लाऊँ। कृष्ण की लीलाओं के प्रति जिस राग भावना से वह आकृष्ट होती है वहाँ भी व्यक्तिगत सीमा से वह ऊपर उठी रहती है। "ईसा और कृष्ण में कितनी समानता है, पर उनके अनुचरों में ऐसी विभिन्नता' —ऐसा सोच कर ही वह उस हिन्दुत्व की सराहना करती है कामना करती है जिसमें व्यापकत्व है। कृष्ण की गोपिकाओं के प्रसंग का वही विशद निर्मल एवं आह्लादकारी रूप उसे मान्य है। प्रेमचन्द के समय कदाचित् 'गीता-रहस्य' से पूर्व की गीतासम्बन्धी निवृत्तिमूलक व्याख्याओं का दुष्परिणाम रहा होगा और रही होगी उन भारतीय ईसाइयों की पसपक्रम आभा जो पाश्चात्य कुप्रभाव के कारण न इधर के रहे थे और न उधर ही के।

धर्म का उपयु क्त स्वरूप ही सोफ़िया के प्रेम-भाव की पृष्ठभूमि है। सोफ़िया का प्रेम भारतीय समाज की प्रत्येक शर्त को पूरा न करते हुए भी मूलतः भारतीय ही है। सृष्टि की इस चिरन्तन एवं आदि-शक्ति की स्वाभाविक स्वच्छन्दता को भारत आरम्भ से ही आदर्श के साँचे में ढालता आया है। हमारे यहाँ प्रेम को एक प्रकार से सन्तुलित मानसिक सम्बन्ध माना गया है भौतिक व्यापार नहीं। यही कारण है कि समाज से दूर कहीं प्रणय और परिणय की पृथक-पृथक करने में भी व्यवस्था नहीं की गई। इस प्रकार शारीरिक भूख को नैतिक आवरण दे दिया गया है। प्रणय व्यक्तिगत धर्म है और परिणय सामाजिक। सोफ़िया के जीवन में ऐसा तो कुछ भी नहीं है जिस पर साधारण भारतीय समाज परिणय अथवा प्रणय की मुहर लगा सके किन्तु प्रेमचन्द ने प्रणय को वासीकता से ऊपर उठाने का भरसक प्रयत्न किया है और वह श्लाघ्य भी है। विनय के प्रति सोफ़िया का प्रेम अनिन्द्य है अक्षुण्ण है। उसे अपनी आशा अपने विश्वास एवं आदर्श के अनुकूल पात्र मिलने पर जिस मधुर भावना का प्रस्फुरण होता है उसके प्रति वह शंकित नहीं है। "वह मुझे अपने प्रेम के योग्य समझते हैं यह मेरे लिए गौरव की बात है —सोफ़ी की इस धारणा के प्रति प्रभु सेवक द्वारा धर्म-विरोध की आशंका उठायी जाती है तो वह तर्क देती है कि "ये विचार उन लोगों के लिए हैं जिनके प्रेम वासना से युक्त होते हैं। प्रेम के लिए धर्म (जाति) की विभिन्नता कोई बन्धन नहीं है ऐसी बाधाएँ उस मनोभाव के लिए हैं जिसका अन्त विवाह है। वस्तुतः प्राय: प्रत्येक भावुक आदर्शवादी प्रेमी यही सोचता है कि प्रेम का अर्थ विवाह नहीं। सोफ़ी के अनुसार भी प्रेम का अन्त विवाह नहीं किन्तु उसे कटु अनुभव भी हुआ है कि प्रेम की चरम सीमा त्याग एवं बलिदान होते हुए भी उसकी प्राप्ति का

सक्षम माध्यम विवाह ही है' इसके बिना जीवन-क्षेत्र में असफलता हाथ लगती है और आजकल के असफल बलिदान को यथोचित मान्यता भी नहीं मिलती। रानी को वचन देकर भी सोफ़ी क्लार्क से विवाह क्यों नहीं कर पाती ? याद मात्र के सहारे ही जिन्दगी कटने की आशा होती तो क्यों लेती है गंगा की शरण वह ? इसका समाधान तो सोफ़िया के पास पहले ही था। 'प्यार मैंने बड़ा धोखा खाया। पहले मैंने समझा था उनसे केवल आध्यात्मिक प्रेम करूँगी। निस्सन्देह सोफ़ी के उपचेतन में विनय से विवाह की सुखद कल्पना विद्यमान है 'केवल' के अतिरिक्त 'कुछ और' की भी चाह है उसे। किन्तु सोफ़िया कल्पनाजीवी रहती है कि रानी द्वारा विवाह की अनुमति मिल जाने पर भी अज्ञात भय की आशंका उसे निरन्तर प्रताड़ित करती रहती है। एक यथार्थ को भूल कर बार-बार वह सोचती है 'क्या सत्य की मीमांसा नहीं है' और इसी प्रकार वह अस्थिर हो जाती है डोल जाती है डोलती रहती है—यहाँ तक कि पंछी पिंजरे से उड़ जाता है और पिंजरे का अवलम्ब भी सोफ़ी नहीं ले पाती। वस्तुतः प्रेमचन्द ने सोफ़ी के चरित्र के माध्यम से यह व्यक्त किया है कि आतीयता विवाह में बाधक नहीं होती विवाह ही प्रेम के सत्य की मीमांसा नहीं है किन्तु सत्य प्राप्ति का पूर्ण एवं अचूक माध्यम अवश्य है। और यह निष्कर्ष भारतीय संस्कृति का वही प्रवृत्तिमूलक मार्ग है जहाँ आठ प्रकार के विवाहों में ब्राह्म विवाह को ही सत्य प्राप्ति का उच्चतम साधन स्वीकार किया गया है।

यह तो था एक तथ्य का स्पष्टीकरण परन्तु सोफ़िया के प्रेम का महत्त्व चिरस्थायी इसलिए है कि विनय से न सही और किसी के साथ भी तो उसका विवाह सम्पन्न नहीं होता। उसने सिद्ध किया है हृदयों का सम्बन्ध आन्तरिक होता है—प्रेम शरीर का नहीं मन का धर्म है और बाह्य उपकरणों का व्याघात वहाँ असमर्थ रहता है स्वयं मृत्यु भी उसका कुछ नहीं बिगाड़ सकती। यह भी कि प्रेम की सीमा संकुचित नहीं है उसका लक्ष्य विषय-वासना एवं व्यक्ति गत सम्बन्धों से बहुत परे त्याग एवं बलिदान है। प्रेम न मस्ती है और न एक नशा ही। कर्त्तव्य की अवहेलना वह नहीं करता। मार्ग से भटकने पर विवेक द्वारा उसे सुमार्ग पर लाया जाता है चाहे प्रेम-पात्र की भर्त्सना ही क्यों न करनी पड़े।

किन्तु सोफ़िया के चरित्र-विकास में उसकी प्रणय भावना का महत्त्व उस दृष्टि से और भी अधिक है कि इसी सशक्त प्रेरणा ने उसके आदर्शों एवं जीवन की कल्पनाओं को प्रेम की तपन के माध्यम से कर्म-रूप दिया है।

वैयक्तिक प्रेम को उसने सामाजिक मानवता में सँजोया है। उसके जीवन में सेवा का क्रियात्मक रूप में सूत्रपात होता है। अन्यथा वह कल्पना की पुतली मात्र बनी रहती। उसका प्रेम ही सेवाधर्म का रूप लेता है। बाधाओं से वह तब भयभीत नहीं होती। वह मुक्त कण्ठ से कहती है "विनय मैं विपत्ति की ही भूखी हूँ।" जीवन उसके लिए नाम है आदर्श प्राप्ति के लिए संघर्ष-समूह का आनन्द का पर्याय नहीं। उसका कथन है, "मुझे उस वस्तु से घृणा है जिसे साधारण लोग सफल जीवन कहते हैं। वह कहती है "मैं जिन महात्माओं को संसार में सर्वश्रेष्ठ समझती हूँ उनके जीवन सफल न थे।" उसका तो विश्वास है कि सेवा निलिप्त भाव से ही की जानी चाहिए। साहित्य के प्रयोजन सम्बन्धी विवाद म भी इसी भावना के कारण वह लोक-मंगल को प्राधान्य देती है। वह अपने कविभ्राता प्रभुसेवक से कहती है "लेकिन तुम्हारा कर्तव्य है कि अपनी इस अलौकिक शक्ति को स्वदेश-बन्धुओं के हित में लगाओ। अब मति की दशा में शृंगार और प्रेम का राग अलापने की जरूरत नहीं होती इसे तुम भी स्वीकार करोगे।

इस प्रकार हम देखते हैं कि नायिका के चरित्र में उसकी मानवतावादी भावनाओं को विकास का अवसर विनय के प्रति उसके आकर्षण के कारण ही प्राप्त होता है। किन्तु डा देवराज ने यहाँ एक और समस्या उठायी है। उनका कथन है "हमारे उपन्यास में बहुत-सी अपरिपक्वता आदर्शवाद के नाम पर भी आती रही है।" 'रंगभूमि' में विनय और सोफिया के प्रेम का चित्रण कुछ ऐसी ही चीज है— संदेह होने लगता है कि प्रेमचन्द को नर-नारी के तीखे प्रेम का अनुभव हुआ था या नहीं। आगे चल कर लिखते हैं, "यदि नैतिकता असली जीवन का नियम है—व्यक्ति और समाज के लिए जीवन-समृद्धि का उपकरण है— तो उसकी महत्ता सिद्ध करने के लिए जीवन के यथार्थ को झुठलाना आवश्यक नहीं होना चाहिए। इस दृष्टि से टालस्टाय की 'एना' 'रंगभूमि' की सोफिया से ज्यादा धर्मविष्णु पात्री है। साधारण दृष्टि से व्यभिचारिणी होते हुए भी एना हमारी वृत्तियों का जितना परिष्कार कर सकती है उतना सोफिया नहीं।[1] देवराजजी का मत एकदम निर्मूल हो ऐसी बात नहीं है किन्तु जस ग्याम के धरातल पर वह जिस यथार्थसम्मित प्रेम को चाहा रखते हैं, वह प्रेमचन्द की उपयोगितावादी दृष्टि से बहुत दूर है। प्रेमचन्द स्पष्टतः मान कर चलते हैं कि वह जनसाधारण के लिए लिख रहे हैं। जिन सहृदयों की

---

१ कल्पना उपन्यास-विशेषांक पृ० १६१ ६८

कृतियों के परिष्कार की बात या देवराज करते हैं जैसे उच्च-मध्य वर्ग
साधारण में मुश्किल से पाँच प्रतिशत भी नहीं होंगे। हाई स्कूल से लेकर
एम ए की कक्षाओं तक प्रेमचन्द के उपन्यासों का पठन-पाठन होता है।
सीधी-सी बात है कि इस अवस्था में 'रमा' नहीं 'सोफ़ी' ही लक्ष्य की ओर
इंगित करती है। वस्तुत रमा वृत्तियों का परिष्कार करती है तो सोफ़ी आमू
लत अन्हें परिष्कृतावस्था का मार्ग दिखलाती है। फिर इस तथ्य को भी
विस्मृत नहीं किया जा सकता कि एक अभारतीय है और दूसरी भारतीय।
भारत का और मु नारी साहित्य भी विशेष के साधारण मु पाश्चात्यमण्डित
साहित्य से कम सीखा है। और तीसरे यह कहना भी तो अन्याय ही है कि
सोफ़ी और विनय के प्रेम चित्रण में यथार्थ का सहारा लिया ही नहीं। प्रेम म
एक सीमा तक की वासना अविश्वास स्वच्छन्दता तथा अन्तर्जातीय संस्कारों
के प्रभाव मार्मिक आदि का चित्रण विनय-सोफ़िया के प्रेम में सफलतापूर्वक
हुआ है। हम क्यों भूल जाते हैं कि प्रत्येक लेखक का अपना-अपना युग होता है युग
की माँग होती है और उसी के अनुसार लेखक अपना दृष्टिकोण निर्धारित करता
है। प्रेमचन्द चाहते तो 'गोस्वामी' की तारा को उपन्यास में उतार सकते थे 'श्यामा
स्वप्न' की रचना कर सकते थे और 'टालस्टाय' की एना की निर्मिति की सामर्थ्य
भी उनमें अवश्य थी और इस प्रकार आर्थिक सन्तुष्टि भी सम्भवत उन्हें बहुत
होती— किन्तु प्रेमचन्द को तो उस सोफ़िया की सृष्टि करनी थी जिसके लिए
एक लेखक को क्षिप्र काल के भौतिक बंधनों को छोड़ कर युग-धर्म को अभि
व्यक्ति के हेतु भूल रह कर जितनी बसर करनी होती है। माना कि उसके
म में वायवीय तत्वों का समावेश हो गया है पर वह कहीं भी अलौकिक नहीं
हुआ है। प्रेमचन्द की प्रम के प्रति निजी धर्म-सापेक्ष धारणा भी जिसका
विवेचन हम तीसरे अध्याय में कर चुके हैं। इसमें सन्देह नहीं कि उस युग में
और आज भी भारतीय पाठकों की वृत्तियों का परिष्कार भारतीय रुचि में
ढली हुई 'सोफ़ी' ही कर सकती है अभिचारिणी 'एना' नहीं।
शंका उठ सकती है कि सोफी चाहे और जो कुछ भी हो सफल पुत्री वह
नहीं है। समाधान ऐसे ही हो सकता है कि जीवन की सफलता एक-दूसरे को
समझने में होती है किन्तु सोफ़ी एक ऐसी सुन्दर तथा व्यापक विकृति है
जिसके लिए परिवार परिवेश का अँधेरे कोने में पड़ा हुआ घिनौना चौखटा
अनुपयुक्त है। उसके लिए करणीय रह ही नहीं गया था जो उसने किया।
सोफ़ी की आत्महत्या भी पाठक के लिए एक बहुत बड़ा प्रश्न-चिह्न है।
असाधारण चरित्र प्रासाद उभारते जाना और अन्त में भावुकतावश अवसा

समाज में विशृंखलता के भय से (जैसा कि 'प्रेम की देवी' की जैनी के साथ भी हुआ है) अत्यन्त साधारणता में उसको गिरा देना—यह प्रेमचन्द का अपने पात्रों के प्रति अन्याय माना गया है। एक बहुत बड़ी सीमा तक यह आरोप उचित भी है। माना कि सोफ़िया की परिस्थितियों को देखते हुए उस का अन्त बहुत अस्वाभाविक नहीं दीखता परन्तु इसे उपयोगितावादी प्रेमचन्द की महान् उपलब्धि भी तो नहीं कहा जा सकता। साधारणतः यही लगता है कि उन्होंने सोफ़ी की महत्वाकांक्षाओं के विराट् स्वरूप को छीन लिया है और यह भी कि आदर्श और यथार्थ में यहाँ पर सन्तुलन वह नहीं रख सके हैं; किन्तु यदि उन्हीं से उनके अपराध का उत्तर माँगा जाये तो वह निश्चित रूप से यही कहेंगे 'मरते वे हैं जिनमें सत्य का बल होता है। विषय-वासना के पुतले ऐसे मर जायें तो संसार स्वर्ग हो जाये।'[1]

मनोरमा

चित्रण-विधि तथा चरित्र-विकास की दृष्टि से मनोरमा सम्भवतः सोफ़िया से भी अधिक सफल बन पाई है। यह प्रेमचन्द की उँगली पकड़ कर चली है विरजन की वकालत भी उन्हें स्वयं कई बार करनी पड़ी है तथा सोफ़िया जैसे सफल चरित्र के साथ भी लेखक की ओर से लम्बे लम्बे वाक्य चिपके हुए मिल जाते हैं किन्तु 'कायाकल्प' की मनोरमा के चरित्र चित्रण की विशेषता यह है कि उसकी चित्रण-विधि विश्लेषणात्मक अथवा अर्थ प्रत्यय न होकर पूर्णतः अप्रत्यक्ष अथवा नाटकीय है। प्रेमचन्दकालीन एक प्रधान सामाजिक वर्ग से सम्बद्ध होते हुए भी वह संस्कार प्रधान वर्ग-चरित्र नहीं अपितु व्यक्ति-चरित्र है। उसमें स्फूर्ति है गत्यात्मकता है स्थिरता नहीं वह न तो कोरे आदर्श की परिणति है और न ही यथायुगीन यथार्थ की प्रतिकृति तथा उद्देश्यतः लोकमन लोकोन्मुख होते हुए भी उसके भीतर सजीवता स्वाभाविकता एवं संगति की पुष्ट अन्विति विद्यमान है।

चक्रधर (अथवा प्रेमचन्द) की दृष्टि में मनोरमा 'चंचल' है लेकिन 'गगन स्पर्शी शैल की भाँति विशाल' है और चित्त को पराभूत करती है। वह 'चातक पक्षी की भाँति पिंजरे में गाने वाली है किन्तु किसी दार्शनिक तत्त्व की भाँति दुर्बोध और जटिल' है। अर्थात् उसकी बाह्य संस्कारगत साधारणता के पर्दों में

---

१ प्रतिभा प्रेमचन्द पृ १२१

एक ऐसी असाधारणता निहित है जिसकी प्राप्ति सत्य है। चक्रधर की दिव्या के रूप में ही उपन्यास में उससे सर्वप्रथम साक्षात्कार होता है और वहीं वह इस भावना की अभिव्यक्ति करती है कि सत्य की हत्या करके पाला गया आदर्श मनस्तुष्टि के लिए अपर्याप्त है अतः केवल बाह्याडम्बर है। उदाहरणतः यदि सीता एक सार्वभौम सत्य है जिसकी आवश्यकता व्यक्ति अथवा समष्टि दोनों के लिए समानतः वांछनीय है। अग्नि-परीक्षा हो चुकने पर भी झूटी निन्दा से बचने के लिए राम जैसे पुरुष द्वारा सीता को दिया गया निर्वासन यदि आदर्श मान भी लिया जाय तो मनोरमा के शब्दों में वह ऐसा आदर्श है जो सत्य की हत्या करके पाला गया है यह आदर्श नहीं है चरित्र की दुर्बलता है। मनोरमा के अनुसार, सत्य तो वह है जिस में सत् अर्थात् 'होने' का भाव विद्यमान है—जो एक में भी है और अनेक में भी जिसकी वही सत्ता विद्यमान है और यदि अनेक का तथाकथित सत्य एक के प्राण-तत्व का तिरस्कार करता है तो वह अन्याय है जिसके विरुद्ध आवाज उठायी ही जानी चाहिए। जब मनोरमा के इस विश्वास को चक्रधर का समर्थन प्राप्त होता है तो वह अपने मस्तक को बहुत उन्नत हुआ समझती है और कहती है "मैं जानती थी कि आप यही जवाब देंगे अब मैं उन लोगों को खूब आड़े हाथों लूंगी।" इस प्रकार आजीवन ही वह न्याय अन्याय की कसौटी सत्य ही को मान कर चलती है। यही कारण है कि दूसरे के प्रति किया गया अन्याय उससे सहा नहीं जाता "आप आसामियों से क्यों नहीं कहते" कहती है वह चक्रधर से "कि एक कौड़ी भी न दें कोई देता ही नहीं तो लोग कैसे ले लेंगे ?

तुम मेरी जगह होती तो आसामियों को मना कर देती ? चक्रधर ने पूछा।

"अवश्य ! खुलम-खुल्ला कहती—खबरदार ! राजा के आदमियों को कोई एक पैसा भी न दे।"

"और दीवान साहिब (अपने पिता) से क्या कहती ?

"उनसे भी यही कहती कि आप मुझसे ले चले जाइए नहीं तो अच्छा न होगा। आप मेरे पूज्य पिता हैं मैं आपकी सेवा करूंगी लेकिन आपको दूसरों का खून न चूसने दूंगी। गरीबों को सता कर अपना घर भर लिया तो कौन-सा बड़ा तीर मार लिया" इस हुकूमत नहीं कहते। यह चाटी भी नहीं है। यह केवल गुस्से और विष का तमाशा है। एक स्थान पर तो वह राजा विशालसिंह से आवेश में कहती है/ "महाराज मैं आपसे यह पूछना था ?) कि क्या मनुष्य और पशुता एक ही वस्तु है या उनमें कुछ अन्तर ?—मुझे अब

है कि इस आतंक के आधार पर बने हुए राज्य भवन का शीघ्र ही पतन हो जायेगा और आपकी सारी कीर्ति स्वप्न की भाँति मिट जाएगी। इसलिए कि सच्चे आदमी के साथ सच्चा बर्ताव होना चाहिए। इसी में आपका भी कल्याण है।"

मनोरमा को चक्रधर से असीम प्यार है। इस सत्य की अस्वीकृति द्वारा वह स्वयं को छलना नहीं चाहती। यह और विचित्रता की बात है कि वह राजा विशाल सिंह की चौथी रानी भी बनती है। विवाह से पूर्व शिष्या रूप में वह चक्रधर से कहती है "आप नहीं रहते तो मेरा किसी काम में जी नहीं लगता है" मुझे तो ऐसा मालूम होता है कि पूर्व-जन्म में भी मेरा और आपका किसी न किसी रूप में साथ था" मैं मर कर भी आपको नहीं भूल सकती। वह यह भी सोचती है "अभी बाबूजी घर न पहुँचे। पानी आ गया तो जरूर भीग जाएँगे। ईश्वर करे वह घर पहुँच गए हों।" चक्रधर किसी लड़की को विवाह के लिए पसन्द करने जाते हैं तो उसकी आँखें डबडबा जाती हैं और बार-बार रुलाई आती है मानो चक्रधर दूर देश जा रहे हों। और जब चक्रधर दूर देश के पथिक बन भी जाते हैं और स्वयं मनोरमा भी राजा साहब की परिणीता हो जाती है तो भी वह चक्रधर को विश्वास दिलाती है "मैं अब भी अपने को आपकी दासी समझती हूँ।" विवाह के दिनों में वह राजा साहब से यह कहने में भी संकोच नहीं करती कि "मैं आपको धोखा देना नहीं चाहती। मुझे आपसे प्रेम नहीं है। मैं रानी तो बनना चाहती हूँ पर किसी राजा की रानी नहीं।" और संभव इस में भी सन्देह नहीं कि विधवा मनोरमा अपने दिवंगत पति की स्मृति के अवलम्ब पर नहीं अपितु पानी की उस आवाज के सहारे जीती है जो उसके कानों में प्रतिध्वनित होती रहती है "नोरा! इन्हें भूल गई? तुम्हारा पुराना सेवक हूँ।" "उन्हीं घोड़ों की भाँति वाला इंजन उसे उस आदमी (चक्रधर) की ओर खींचता हुआ जान पड़ता है।" किन्तु मनोरमा के इस आकर्षण का मुख्य विषय यौवनावस्था का रूपाकर्षण नहीं है। चक्रधर का हाड़-मांस नहीं अपितु उनके आदर्श उसे खींचते हैं। अपने ही विश्वासों की चरम पूर्ति उसे चक्रधर में परिलक्षित होती है। जिस चक्रधर के वीर कृत्यों को वह समाचार पत्रों में पढ़ती है उन्हीं से कहती है "सोचती थी कि आप यहाँ आवेंगे तो आपकी पूजा करूँगी।" सार्वजनिक सेवा-कार्यों में भाग लेना यदि वह केवल इसलिए छोड़ दें कि कारावास की भीषणता उन्हें असह्य है तो मनोरमा राजा साहब को बता देती है कि वह "उसी क्षण मेरे आदर्श से गिर जायेंगे।" वस्तुतः मनोरमा के प्रेम ने सर्वस्व देकर अपने लिए कुछ भी लेना नहीं सीखा है। उसके

अनुसार तो प्रेम की चरम पूर्ति है प्रेम-पात्र के लिए आदर्श सेवा-यात्रा का पाथेय जुटाना। राजा साहब से विवाह करके भी वह चक्रधर के लिए धन-रूपी अग्नि कार्य उपादान ही जुटाना चाहती है। चक्रधर के प्रति उसे यह क्षणिक गिला है कि 'तुम मुझे विलासिनी समझ रहे हो यह तुम्हारा अन्याय है। और किस प्रकार मैं तुम्हारी सेवा करती ?' मनोरमा तो जीते-जी अपना बलिदान देकर प्यार को जीतती है—उस प्यार को जो लोकहित के लिए जेलों में तड़पता है उस प्यार को जो सत्याग्रही है और अन्याय को निर्मूल सिद्ध करना चाहता है उस प्यार को, जो मानवमात्र को भ्रातृभाव में बाँधना चाहता है उस प्यार को जिसका सेवा-मार्ग है 'जीती को देखो' और जो कर्तव्य त्याग बलिदान तथा सहनशीलता की गहरी घाटियों में से होता हुआ आखिरी मंजिल तक पहुँचता है उस प्यार को जिसकी प्रेरणा पवित्रता के प्रवाह में निहित है और जो मनोरमा का अपना होता हुआ भी सभी का है।

यह एक निर्विवाद तथ्य है कि मनोरमा को ऐसे दाम्पत्य से वितृष्णा है जो प्रेम पाश से दूर कोरे विवाह द्वारा परिपुष्ट होने की कल्पना पर जीवित है। स्पष्टतः वह राजा साहब से कह देती है कि उसे उनसे प्रेम कदापि नहीं है और एक बार उनकी निराशावस्था में यह भी सुना देती है कि बहुपत्नीत्व का उचित दण्ड ही उन्हें मिला है। उसने तो विवाह किया है दूसरों के उपकार के लिए; किन्तु राजा साहब को भी सन्तुष्ट वह अवश्य करेगी। पत्नी बन कर वह सोचती है 'प्रेम से मैं वंचित हो गई अब मुझे सेवा से ही अपना जीवन सफल बनाना होगा। यही कारण है कि "कविता में और सब रस थे केवल शृङ्गार रस न था।" अपनी सम्पूर्ण कर्तव्य-भावना को मनोरमा राजा साहब की ओर उँडेलने का प्रयत्न करती है और उपचार-रूप में यही तो बचा है उसके पास उनके लिए। राजा साहब की असन्तुष्टि उसे लाख यातनाएँ देती है किन्तु वह सब-कुछ सहन करती हुई कहती है "जिनकी खुशी की परवाह नहीं तो फिर किसकी खुशी की परवाह करेगी! जो स्त्री अपने पति से दिल में कीना रखे उसे विष खाकर प्राण दे देना चाहिए। हमारा धर्म कीना रखना नहीं क्षमा करना है।" निस्सन्देह मनोरमा इस दृष्टि से पूर्ण पति-परायणा है किन्तु देखा जाय तो राजा साहब के लिए उसका पत्नीत्व एक मृगतृष्णा ही है। ऐसी मृगतृष्णा जिस पर उनका वश नहीं है, जिसमें कभी उन्हें अज्ञात रूप से परलोक की ओर खिंचाव दीखता है तो कभी पत्नी पति से यह कहती हुई दीखती है 'मैं आपका यह एहसान कभी न भूलूँगी।"

किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि मनोरमा के हृदय में उमंगें नहीं हैं

मातृत्व की चाह नहीं है। उसके ये शब्द ही कि "अहल्या ! मैं अब यह लाल तुम्हें नहीं दूँगी। यह मेरा है" उसकी इस भावना के परिचायक हैं। किन्तु उसने इन्हें दबा कर सेवा के मार्ग से निकालने का यत्न किया है। इतना ही कह कर संतोष किया है "नाथ ! मनुष्य का उद्धार पुत्र से नहीं अपने कर्मों से होता है।"

मनोरमा ने एक बात और समझी है। ये आदर्शवादी व्यर्थ में ही धन को तिरस्कार्य समझ कर अपने-आप को ठगते रहते हैं। धन के बिना तो कोई भी सुधार तथा परोपकार सम्भव नहीं है। आवश्यकता केवल इस बात की होती है कि धन प्राप्ति के उपरान्त हम विलासजीवी न हो जायें भौतिक महत्ता से अपने आदर्शों से न गिर जायें। स्वयं जीकर हम दूसरों को जीवित रहने की सामर्थ्य प्रदान करें। इसके लिए त्याग की आवश्यकता होती है यह सोचने की सामर्थ्य कि "मैंने सर्प की भाँति धनराशि पर बैठ कर उसकी रक्षा के लिए यह पद नहीं स्वीकार किया है बल्कि अपनी आत्मोन्नति और दूसरों के उपकार के लिए ही। 'तू प्रेम को छोड़ कर धन के पीछे दौड़ेगी पर तेरा उद्धार प्रेम ही से होगा' —का अर्थ यही है कि किसी भी आदर्श के साधन के रूप में धन को जीवन के रूप में ग्रहण करना चाहिए, साध्य के रूप में नहीं।

मनोरमा का यह विश्वास है कि "आत्म-सम्मान की रक्षा हमारा सबसे बड़ा धर्म है।" अन्य जाति की होने के कारण अहल्या का छुआ हुआ जब चक्रधर के घर वाले नहीं खाते तो वह चक्रधर से कहती है 'मैं अहल्या की जगह होती तो उस घर में एक क्षण भी न रहती।' वस्तुतः विवाह को भी मनोरमा आत्म-समर्पण के रूप में स्वीकार नहीं करती। वह उसे एक आदर्श समझौता ही समझती है जिसका प्रमुख उद्देश्य होता है सम्मान-रक्षा। वह कहती है "मैं तो समझती हूँ जो विवाह लड़की की इच्छा के विरुद्ध किया जाता है वह विवाह ही नहीं है।" और यही कारण है कि उसकी आत्मसम्मान प्रियता के समक्ष राजा साहब को भी कई बार निरुत्तर होना पड़ता है। जब वह अपने पूर्णाधिकार-सहित कहती है—"अब मैं यहीं रहूँगी आप जाइये। मेरी चीजें यहीं भिजवा दीजियेगा" तो राजा साहब को मानसिक रूप से भी पराभूत होना ही पड़ता है।

सहानुभूति को जीतने तथा जीवित रहने का एक ही अस्त्र है मनोरमा के पास वह है सहनशीलता। प्रेम-पात्र के अन्यत्र विवाह को वह सहेगी पति ...ो क्रोध के कारण आये-दिन के अपमानों को वह सहन करेगी सहेगी ...ह्न्या की निष्ठुरता के कारण दिन भर पत्थर रंग सेगी और पत्नियों के

व्यंग्यबाणों का उत्तर भी सहनशीलता के मौन से ही देती—किन्तु केवल लेकर भी उसे तो जीना है। उसे जीवन से पराङ मुखी नहीं होना है।

मनोरमा के चरित्र में एक-दो त्रुटियाँ भी हैं। ईर्ष्या उनमें एक है। उसकी यह भावना सम्भवतः आत्मसम्मान के अतिक्रमण का ही परिणाम है। सपत्नी रोहिणी की मृत्यु पर सभी आते हैं किन्तु मनोरमा नहीं आती। इसी प्रकार उसकी सैद्धान्तिक प्रतिबद्धता भी एक-दो स्थलों पर आदर्श-पालन की अपेक्षा दोष की सीमा में अधिक दूर तक चली जाती है। किन्तु इन दोनों का महत्त्व इसी में है कि ये मनोरमा को इसी धरती का पात्र बनाये रखते हैं।

चरित्र-संगठन की दृष्टि से मनोरमा और रानी देवप्रिया के पारस्परिक प्रसंगों की आवश्यकता नहीं थी। इससे मनोरमा के चरित्र विकास में कोई भी नवीन रेखा नहीं उभरी है। चरित्र की व्यापकता भले ही इससे समृद्ध हुई हो किन्तु कलात्मक ह्रास उससे अधिक हुआ है।

किन्तु यह सब होते हुए भी 'कायाकल्प' मनोरमा के ही सहारे टिका हुआ है।

रुपिया, तारा, लज्जा, लता तथा चन्दा

प्रेमिका-रूप में प्रधानतः उपर्युल्लिखित पाँचों नारी-पात्र प्रेमचन्द की कहानियों में चित्रित हुए हैं। कहानी में किसी भी भाव की सभी अवस्थाओं की सर्वांगीण अभिव्यक्ति का यथोचित अवकाश सम्भव नहीं होता—तद् सम्बन्धी एक पक्ष ही प्रायः वहाँ उभरा करता है—इन पाँचों पात्रों में प्रेमचन्द की प्रेम भावना तथा रसात्मक चित्रण में जो तारतम्य (तर और तम) परिलक्षित होता है उस के कारण ही इनके चरित्र-विश्लेषण की एक साथ ही आवश्यकता अनुभव हुई है।

रुपिया—'ज्योति' कहानी की रुपिया कहानी में प्रधान पात्र नहीं है तो भी प्रभावार्पण की प्रारम्भिक अवस्था की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण अवश्य है। मोहन युवक है रुपिया को भी यौवन के आगमन का मादक स्वर सुनायी पड़ रहा है अतः वह स्वभावतः मोहन की ओर खिंच जाती है। रुपिया का प्रेम रूपाकर्षण पर अवलम्बित होते हुए भी विश्वस्त एवं निश्छल है। वही मोहन जो अपने परिवार के सदस्यों के प्रति उदासीन था [रुपिया का प्यार पाकर उनके प्रति स्नेह करना सीखता है। रुपिया तो केवल इतना ही चाहती है "तुम मेरे पास एक बार रोज आ जाया करो। बस और मैं कुछ

नहीं चाहती। वह मोहन के बिना रह नहीं सकती। मोहन की विधवा बूढ़ी माँ को पहले तो अपने बेटे का चाल चलन पसन्द नहीं होता किन्तु जब वह देखती है कि 'फूल (रुपिया) में केवल रंग ही नहीं है सुगन्ध भी है जिसके कारण उसके पुत्र की कर्तव्य भावना भी सुगन्धित हो गई है, तो उसके मन में रुपिया से जो घृणा हो गई थी वह किसी दैवी मन्त्र से धुल-सी जाती है। वह सोचती है 'आजकल की लड़कियाँ अपने बच्चों की तो परवाह नहीं करतीं दूसरों के लिए कौन मरता है! सारी रात (रुपिया) अम्मा के लड़के को लिए जागती रही। परिणामस्वरूप बूढ़ी का मन भी रुपिया की निश्छलता तथा भोलेपन से प्रभावित हो जाता है और वह दोनों के परस्पर विवाह की अनुमति दे देती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि रुपिया के संघर्षहीन सहज प्रेम में वह प्रारम्भिक आकर्षण है जिसके मादक आलोक में व्यक्ति सम्पूर्ण वातावरण को ही स्नेहमयी दृष्टि से देखता है और दोनों की निश्छलता के कारण जिसमें पारस्परिक उलझनों का नाम-निशान नहीं होता।

तारा—प्रेम-सोपान का दूसरा चरण है 'ऐक्ट्रेस' कहानी की तारा। तारा एक अभिनेत्री है जिसकी अवस्था पैंतीस वर्ष की है। एक दिन शकुन्तला के अभिनय में उसे देख कर शहर के धनाढ्य नवयुवक कुँवर निर्मलकान्त उस पर मोहित हो जाते हैं। तारा जिसे "आज से बीस साल पहले एक बार प्रेम का कटु अनुभव हो चुका होता है एक बार फिर हृदय में प्रेम का दीपक जला बैठती है। उसे कुँवर से विवाह की प्रबल इच्छा होती है किन्तु विवाह से एक दिन पूर्व ही वह भाग जाती है। वह सोचती है कि जिस 'प्रेम के देवता' ने उसकी खातिर कुल-मर्यादा तक को तिलांजलि दे दी हो बासी तथा कृत्रिम साधनों द्वारा परिचालित एक कृत्रिम शरीर उसके व्यवहार के योग्य नहीं हो सकता प्रेम त्याग है और उपभोग वासना मिथ्या—सत्य और मिथ्या दोनों एक साथ नहीं रह सकते। परिणामतः वह इतना लिख कर 'मुझे ऐसा जान पड़ता है कि प्रेम की स्मृति में प्रेम के भोग से कहीं अधिक माधुर्य और आनन्द है' तथा कुँवर को कहीं अन्य विवाह कर लेने को कह कर, किसी अज्ञात दिशा की ओर चल देती है। हम देखते हैं कि रुपिया के प्रेम में जहाँ प्रारम्भिक आकर्षण भी है और विवाह की इच्छा विद्यमान है वहाँ तारा के चरित्र में स्थाकर्षण भी है और विवाह की इच्छा भी किन्तु उसमें भी वही उपलब्धि है वास्तविक प्रेम की पहचान—रागात्मक सम्बन्ध की जानने की क्षमता—यह सोचने की शक्ति कि 'मैं अपने प्रेम-पात्र के योग्य भी हूँ अथवा नहीं। और जब वह स्वयं को पूर्णतः अयोग्य समझती है तो त्याग का आश्रय

लेती है। तारा का प्रेम शरीर से आरम्भ होकर त्याग तक पहुँचता है। किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि यह त्याग एक प्रकार की बेबसी का ही परिचायक है अभावात्मक है भावात्मक नहीं।

लज्जा—'हार की जीत' की लज्जा हृदय में प्रेमांकुरों के पल्लवित हो जाने पर भी विवाह को भावुकता नहीं समझती है। शारदाचरण उसकी ओर आकृष्ट है और आर्थिक दृष्टि से उससे अधिक सम्पन्न होने पर भी कहता है 'तुम्हारे लिए मैं आज रियासत को तिलांजलि दे सकता हूँ।' किन्तु लज्जा सक्षम है। वह शारदाचरण को बता देती है 'तुम्हारे कालेज की शीतल छाया में पला हुआ साम्यवाद बहुत दिनों तक सांसारिक जीवन की लू और लपट को न सह सकेगा।' प्रेरणा-स्वरूप शारदाचरण लज्जा से शारीरिक रूप में दूर रह कर भी उसके प्रेमालोक में सेवा-पथ पर अग्रसर होता है। वह कौंसिल में जा कर कृषकों की अधिकार रक्षा का प्रबल पक्ष लेता है। इधर लज्जावती के मन में भी श्रद्धा और प्रेम की मात्रा दिनों-दिन बढ़ती जाती है क्योंकि अपने प्रेम को जो रूप वह देना चाहती थी वह उसके लिए अमान्य नहीं रह जाता अतः अब उसे विवाह करने में भी कोई हिचक नहीं रहती। उधर शारदाचरण अधिक अकेलापन सहन न कर सकने के कारण एक अन्य युवती सुशीला की ओर आकृष्ट होता है और एक पत्र में लज्जा से बहाना कर देता है कि वह क्षयरोग में ग्रस्त हो गया है। किन्तु लज्जा जिसे कि अब आदर्श प्रेम पात्र की प्राप्ति हो चुकी होती है भावी वैधव्य की यन्त्रणाएं सहने को भी तैयार हो जाती है और अविलम्ब शारदाचरण के पास नैनीताल पहुँचती है। उसे ज्ञात है कि सुशीला से शारदा का क्या सम्बन्ध है किन्तु सब-कुछ सहन करती हुई वह शारदा की सेवा करती है और अन्ततः तपस्विनी बन कर ही उसे सुनने को मिलता है 'नहीं लज्जा अब हम में और तुम में कभी वियोग न होगा।' इस प्रकार 'रुपिया' के प्रेम में यदि आरम्भिक आकर्षण है और 'तारा' में योग्य अयोग्य को समझने की त्यागान्वित सामर्थ्य विद्यमान है तो लज्जा के प्रेम में ऐसी प्रेरक भावना है जो अयोग्य को योग्य बनाती है जो कोरी भावुकता नहीं व्यक्ति-विशेष से बाहर तक प्रसार रखती है और जो त्याग प्रधान होती हुई भी अन्ततः आनन्द की भावात्मक स्थिति को प्राप्त होती है। लज्जा प्रेम सोपान का तीसरा चरण है।

लैला—'लैला' कहानी की लैला प्रेमिका-रूप में लज्जा से भी एक दर्जा आगे है। लज्जा जिस प्रलोभन को रोक नहीं पाती लैला की वह मुट्ठी में है। कभी समय था जब वह निरीह भाव से डफली पर, मुक्त वातावरण में मुक्त

नहीं चाहती। वह मोहन के बिना रह नहीं सकती। मोहन की विधवा बूढ़ी माँ को पहले तो अपने बेटे का चाल-चलन पसन्द नहीं होता किन्तु जब वह देखती है कि फूल (रधिया) में केवल रंग ही नहीं है सुगन्ध भी है जिसके कारण उसके पुत्र की कर्तव्य भावना भी सुगन्धित हो गई है तो उसके मन में रधिया से जो घृणा हो गई थी वह किसी दैवी भय से घुल-सी जाती है। वह सोचती है आजकल की लड़कियाँ अपने बच्चों की तो परवाह नहीं करतीं दूसरों के लिए कौन मरता है। सारी रात (रधिया) भगिया के लड़के को लिए जागती रही। परिणामस्वरूप बूढ़ी का मन भी रधिया की निस्स्वार्थता तथा भोलेपन से प्रभावित हो जाता है और वह दोनों के परस्पर विवाह की अनुमति दे देती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि रधिया के संघर्षहीन सहज प्रेम में वह प्रारम्भिक आकर्षण है जिसके मादक आलोक में व्यक्ति सम्पूर्ण वातावरण को ही स्नेहमयी दृष्टि से देखता है और दोनों की निष्कपटता के कारण जिसमें पारस्परिक असमता का नाम-निशान नहीं होता।

तारा—प्रेम-सोपान का दूसरा चरण है 'एक्ट्रेस' कहानी की तारा। तारा एक अभिनेत्री है जिसकी अवस्था पैंतीस वर्ष की है। एक दिन शकुन्तला के अभिनय में उसे देख कर शहर के धनाढ्य नवयुवक कुँवर निर्मलकान्त उस पर मोहित हो जाते हैं। तारा जिसे आज से बीस साल पहले एक बार प्रेम का कटु अनुभव हो चुका होता है, एक बार फिर हृदय में प्रेम का दीपक जला बैठती है। उसे कुँवर से विवाह की प्रबल इच्छा होती है किन्तु विवाह से एक दिन पूर्व ही वह चेत जाती है। वह सोचती है कि जिस प्रेम के देवता ने उसकी खातिर कुल-मर्यादा तक को तिलांजलि दे दी हो बासी तथा कृत्रिम साधनों द्वारा परिचालित एक कृत्रिम शरीर उसके उपहार के योग्य नहीं हो सकता प्रेम सत्य है और उपभोग-वासना मिथ्या—'सत्य और मिथ्या दोनों एक साथ नहीं रह सकते। परिणामतः वह इतना लिख कर, 'मुझे ऐसा जान पड़ता है कि प्रेम की स्मृति में प्रेम के भोग से कहीं अधिक माधुर्य और आनन्द है' तथा कुँवर को कहीं अन्य विवाह कर लेने को कह कर, किसी अज्ञात दिशा की ओर चल देती है। हम देखते हैं कि रधिया के प्रेम में जहाँ प्रारम्भिक आकर्षण भी है और विवाह की इच्छा विद्यमान है, वहाँ तारा के चरित्र में अनाकर्षण भी है और विवाह की इच्छा भी किन्तु उससे भी बड़ी उपलब्धि है वास्तविक प्रेम की पहचान—रागात्मक सम्बन्ध का जानने की क्षमता—यह सोचने की शक्ति कि मैं अपने प्रेम-पात्र के योग्य भी हूँ अथवा नहीं। और जब वह स्वयं को पूर्णतः अयोग्य समझती है तो त्याग का आश्रय

देती है। तारा का प्रेम शरीर से आरम्भ होकर त्याग तक पहुँचता है। किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि यह त्याग एक प्रकार की बेबसी का ही परिचायक है अभावात्मक है भावात्मक नहीं।

लज्जा—'हार की जीत' की लज्जा हृदय में प्रेमांकुरों के पल्लवित हो जाने पर भी विवाह को भावुकता नहीं समझती है। शारदाचरण उसकी ओर आकृष्ट है और आर्थिक दृष्टि से उससे अधिक सम्पन्न होने पर भी कहता है 'तुम्हारे लिए मैं सात रियासत को तिलांजलि दे सकता हूँ।' किन्तु लज्जा संयम है। वह शारदाचरण को बता देती है 'तुम्हारे कालेज की शीतल छाया में पला हुआ साम्यवाद बहुत दिनों तक सांसारिक जीवन की लू और लपट को न सह सकेगा।' प्रेरणा-स्वरूप शारदाचरण लज्जा से शारीरिक रूप में दूर रह कर भी उसके प्रभालोक में सेवा-पथ पर अग्रसर होता है। वह कौंसिल में जा कर कृषकों की अधिकार रक्षा का प्रबल पक्ष लेता है। इधर लज्जावती के मन में भी श्रद्धा और प्रेम की मात्रा दिनों-दिन बढ़ती जाती है क्योंकि अपने प्रेम को जो रूप वह देना चाहती थी वह उसके लिए अप्राप्य नहीं रह जाता अतः अब उसे विवाह करने में भी कोई हिचक नहीं रहती। उधर शारदाचरण अधिक अकेलापन सहन न कर सकने के कारण एक अन्य युवती सुशीला की ओर आकृष्ट होता है और एक पत्र में लज्जा से बहाना कर देता है कि वह क्षयरोग से ग्रस्त हो गया है। किन्तु लज्जा जिसे कि अब आदर्श प्रेम पात्र की प्राप्ति हो चुकी होती है भावी वैधव्य की यन्त्रणाएँ सहने को भी तैयार हो जाती है और अविलम्ब शारदाचरण के पास नैनीताल पहुँचती है। उसे ज्ञात है कि सुशीला से शारदा का क्या सम्बन्ध है किन्तु सब-कुछ सहन करती हुई वह शारदा की सेवा करती है और अन्ततः तपस्विनी बन कर ही उसे सुनने को मिलता है 'नहीं लज्जा अब हम में और तुम में कभी वियोग न होगा।' इस प्रकार 'सोफिया' के प्रेम में यदि आरम्भिक आकर्षण है और 'त्याग' में योग्य अयोग्य को समझने की त्यागान्वित सामर्थ्य विद्यमान है तो लज्जा के प्रेम में ऐसी प्रेरक भावना है जो अयोग्य को योग्य बनाती है जो कोरी भावुकता नहीं कर्त्तव्य-विवेक से बाहर तक प्रसार रखती है और जो त्याग प्रधान होती हुई भी अन्ततः आनन्द की भावात्मक स्थिति को प्राप्त होती है। लज्जा प्रेम सोपान का तीसरा चरण है।

लैला—'लैला' कहानी की लैला प्रेमिका-रूप में लज्जा से भी एक दर्जा आगे है। लज्जा जिस प्रलोभन को रोक नहीं पाती लैला की वह मुट्ठी में है। कभी समय था जब वह निरीह भाव से डफली पर, मुक्त वातावरण में मुक्त

नहीं चाहती। वह मोहन के बिना रह नहीं सकती। मोहन की विधवा बूढ़ी माँ को पहले तो अपने बेटे का चाव चलन पसन्द नहीं होता किन्तु जब वह देखती है कि 'फूल (रुपिया) में केवल रंग ही नहीं है सुगन्ध भी है जिसके कारण उसके पुत्र की कर्त्तव्य भावना भी सुगन्धित हो गई है, तो उसके मन में रुपिया से जो घृणा हो गई थी वह किसी दैवी मन्त्र से धुल-सी जाती है। वह सोचती है 'आजकल की लड़कियाँ अपने बच्चों की तो परवाह नहीं करतीं, दूसरों के लिए कौन मरता है / सारी रात (रुपिया) बनिया के लड़के को लिए जागती रही। परिणामस्वरूप बूढ़ी का मन भी रुपिया की निश्छलता तथा भोलेपन से प्रभावित हो जाता है और वह दोनों के परस्पर विवाह की अनुमति दे देती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि रुपिया के संघर्षहीन सहज प्रम में वह प्रारम्भिक आकर्षण है जिसके मादक आलोक में व्यक्ति सम्पूर्ण वातावरण को ही स्नेहमयी दृष्टि से देखता है और दोनों की निष्कपटता के कारण जिसमें पारस्परिक उलझनों का नाम निशान नहीं होता।

तारा—प्रम-सोपान का दूसरा चरण है 'ऐक्ट्रेस' कहानी की तारा। तारा एक अभिनेत्री है जिसकी अवस्था पैंतीस वर्ष की है। एक दिन शकुन्तला के अभिनय में उसे देख कर शहर के धनाढ्य नवयुवक कुँवर निर्मलकान्त उस पर मोहित हो जाते हैं। तारा जिसे "आज से बीस साल पहले एक बार प्रेम का कटु अनुभव हो चुका होता है एक बार फिर हृदय में प्रम का दीपक जला बैठती है। उसे कुँवर से विवाह की प्रबल इच्छा होती है किन्तु विवाह से एक दिन पूर्व ही वह भाग जाती है। वह सोचती है कि जिस 'प्र म के देवता' ने उसकी खातिर कुल-मर्यादा तक को तिलांजलि दे दी हो वासी तथा कृत्रिम साधनों द्वारा परिचालित एक कृत्रिम शरीर उसके उपहार के योग्य नहीं हो सकता' प्रम सत्य है और उपभोग भावना मिथ्या—सत्य और मिथ्या दोनों एक साथ नहीं रह सकते। परिणामतः वह इतना लिख कर, मुझे ऐसा जान पड़ता है कि प्रेम की स्मृति में प्रेम के भोग से कहीं अधिक माधुर्य और आनन्द है तथा कुँवर को कहीं अन्य विवाह कर लेने को कह कर, किसी अज्ञात दिशा की ओर चल देती है। हम देखते हैं कि रुपिया के प्रेम में जहाँ प्रारम्भिक आकर्षण भी है और विवाह की इच्छा विद्यमान है वहाँ तारा के चरित्र में अपाकर्षण भी है और विवाह की इच्छा भी किन्तु उससे भी बड़ी उपलब्धि है वास्तविक प्रेम की पहचान—रागात्मक सम्बन्ध को जानने की क्षमता—यह सोचने की शक्ति कि 'मैं अपने प्रेम-पात्र के योग्य भी हूँ अथवा नहीं। और जब वह स्वयं को पूर्णतः अयोग्य समझती है तो त्याग का माध्य

देती है। तारा का प्रेम शरीर से आरम्भ होकर त्याग तक पहुँचता है। किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि यह त्याग एक प्रकार की कमजोरी का ही परिचायक है अभावात्मक है भावात्मक नहीं।

लज्जा—'हार की जीत' की लज्जा हृदय में प्रेमांकुरों के पल्लवित हो जाने पर भी विवाह को आतुरता नहीं समझती है। शारदाचरण उसकी ओर आकृष्ट है और आर्थिक दृष्टि से उससे अधिक सम्पन्न होने पर भी कहता है "तुम्हारे लिए मैं आज विलासता को तिलांजलि दे सकता हूँ।" किन्तु लज्जा संयम है। वह शारदाचरण को बता देती है "तुम्हारे कालेज की शीतल छाया में पला हुआ साम्यवाद बहुत दिनों तक सांसारिक जीवन की लू और लपट को न सह सकेगा।" प्रत्युत्तर-स्वरूप शारदाचरण लज्जा से शारीरिक रूप में दूर रह कर भी उसके प्रभालोक में सेवा पथ पर अग्रसर होता है। वह कौंसिल में जा कर कृषकों की अधिकार रक्षा का प्रबल पक्ष लेता है। इधर लज्जावती के पत्रों में भी श्रद्धा और प्रेम की मात्रा दिनों-दिन बढ़ती जाती है क्योंकि अपने प्रेम को जो रूप वह देना चाहती थी वह उसके लिए असाध्य नहीं रह जाता अतः अब उसे विवाह करने में भी कोई हिचक नहीं रहती। इधर शारदाचरण अधिक मनोमन्थन सहन न कर सकने के कारण एक अन्य युवती सुशीला की ओर आकृष्ट होता है और एक पत्र में लज्जा से बहाना कर देता है कि वह क्षयरोग में ग्रस्त हो गया है। किन्तु लज्जा जिसे कि अब आदर्श प्रेम-मार्ग की प्राप्ति हो चुकी होती है, भावी वैधव्य की यातनाएँ सहन करने भी तैयार हो जाती है और अविलम्ब शारदाचरण के पास नैनीताल पहुँचती है। उसे ज्ञात है कि सुशीला से शारदा का क्या सम्बन्ध है, किन्तु सब-कुछ सहन करती हुई वह शारदा की सेवा करती है और अन्ततः तपस्विनी बन कर ही उसे सुनने को मिलता है 'नहीं लज्जा अब हम में और तुम में कभी वियोग न होगा।' इस प्रकार 'रसिया' के प्रेम में यदि शारीरिक आकर्षण है और 'तारा' में योग्य अयोग्य को समझने की स्वाभाविक सामर्थ्य विद्यमान है तो लज्जा के प्रेम में ऐसी प्रखर भावना है जो अयोग्य को योग्य बनाती है जो कोरी भावुकता नहीं कर्तव्य-विवेक से बाहर तक प्रसार रखती है और जो त्याग प्रधान होती हुई भी अन्ततः आनन्द की भावात्मक स्थिति को प्राप्त होती है। लज्जा प्रेम सोपान का तीसरा चरण है।

नैना—'नैना' कहानी की नैना प्रेमिका-रूप में लज्जा से भी एक दर्जा आगे है। लज्जा जिस प्रलोभन को रोक नहीं पाती नैना की वह मुट्ठी में है। अभी समय था जब वह निरीह भाव से रहती पर, मुक्त वातावरण में मुक्त

राग अलापा करती थी तब एक दिन तेहरान के शाहजादे की नजर उस पर पड़ी थी और कम्बीर के लम्बे दामन ने उसे रानी के रूप में महलों में ला छोड़ा था। कभी समय था जब अज्ञानी रानी के परोपकारों का प्रतिकार प्रजा ने विद्रोह के रूप में किया था और निष्कासित होकर राजा के साथ देश-विदेश की खाक छानते हुए भी उसने सुखपूर्वक पाँच वर्ष व्यतीत किये थे—किन्तु आज तो यह सब सपना है। तेहरान का राज प्रासाद वही है राजा के रूप में नादिर भी विद्यमान है वही पहले की प्रजा भी है किन्तु आज लैला नहीं अज्ञात में विलीन हो चुकी है। इसलिए नहीं कि 'रूपिया' की भाँति उसके प्रेम में मादकता थी अपितु इसलिए कि वह प्रेम को हृदयों का अमर बन्धन समझती थी इसलिए नहीं कि वह 'तारा' की भाँति अपने-आप में त्रुटियाँ अनुभव करती थी अपितु इसलिए कि वह दूर रह कर दूसरों की त्रुटियों को वात्सल्यमय सन्मार्ग देना चाहती थी—और इसलिए नहीं कि वह मन्ना की भाँति विभाजित प्रेम का वरण करती रही वरन् इसलिए कि 'लैला मुहब्बत की लौंडी थी' जब मुहब्बत न रही तब लैला क्यों कर रहती! वस्तुतः लैला का प्रेम ऐसा प्रेम है जिसे बड़ी-बड़ी प्राचीरों में नहीं बाँधा जा सकता। उसमें पीड़ा प्रसूत एक व्यापकता है जो सभी की सहानुभूति को अनायास [ही खींच लेती और साहित्य में कुशल चरित्रांकन का यही तो मानदण्ड होता है।

चन्दा—भारतीय दृष्टिकोण से 'कायाकल्प' में अभिव्यक्त चन्दा की प्रेम भावना ही सर्वोत्कृष्ट ठहरती है। इसमें देश काल व्यक्ति और मृत्यु से परे चिरन्तन प्रेम का चित्रण हुआ है। शरीरावसान हो जाने पर भी चन्दा की आत्मा कुँवर राजनाथ की आत्मा से विलग नहीं होती। चन्दा ने कुँवर से कहा था 'इतना प्रेम करके फिर भूल न जाना!' किन्तु दोनों के विवाह की तैयारी के दौरान में ही कुँवर को अकेला पाकर उसके शत्रु उठा ले जाते हैं। बीस वर्ष कारा में रहने के बाद कुँवर को जेल से भागने का अवसर मिलता है परन्तु चन्दा तब तक अनवरत प्रतीक्षा में प्राण त्याग चुकी होती है। चिड़िया के रूप में कुँवर को चन्दा की आत्मा का भान होता है। और उसकी प्राप्त क्रियाओं को उसकी भी लाश ही मिलती है। आज भी पक्षियों का एक जोड़ा चन्दा और कुँवर द्वारा लगाये गए वृक्ष पर एक झोंपड़े में निवास करता है। 'यह पक्षियों का जोड़ा कुँवर और चन्दा का जोड़ा है इसमें किसी को सन्देह नहीं है। इस प्रकार चन्दा के प्रेम में मृत्यु को भी विजित करने की सामर्थ्य है। वह स्वयं जीवन भर वेदना की प्रतिमूर्ति रही किन्तु अपने प्रेम पर उसने आँच नहीं आने दी। उसका प्रेम शरीरातीत है। यही कारण है कि यद्यपि आत्मा

त्मिक दृष्टि से यह भावना संशयावलम्बित होने के कारण प्रत्येक द्वारा ग्राह्य नहीं है और यद्यपि यथार्थ से दूर होने के कारण ऐसे प्रेम-चित्रण प्रेमचन्द साहित्य में अधिक नहीं हैं तथापि आध्यात्मिकता के देश भारत में यही भावना सर्वोत्कृष्ट समझी जाती रही है। यह मिट्टी से ऊपर उठने की प्रेरणा देती है। वस्तुतः भारतीय संस्कृति में सर्वोत्कृष्ट विवाह-रूप ब्राह्म-विवाह की मान्यता इसी आदर्श के सहारे खड़ी की गई थी। आज की यथार्थमयी परिस्थिति-सापेक्ष प्रेम-भावनाओं के चित्रण में जमना का प्रेम अर्थसाक्षेप-सा दीखता हुआ भी प्यार के नाम पर रूप को छलने वालों के लिए एक दीप-स्तम्भ है और है वासनाओं के आवर्त में पड़ी हुई नौकाओं के लिए चेतावनी।

प्रेमा तथा सिलिया

'कायर' कहानी की प्रेमा तथा 'गोदान' की सिलिया का चरित्राध्ययन तुलना-सापेक्ष है। प्रेमा का तो चित्रण ही प्रेमिका रूप में हुआ है और उधर एक अबोध शिशु की जननी सिलिया का चरित्र भी प्रेम-प्रधान ही है। फिर भी दोनों की प्रेम-भावनाओं में एक गहरी एवं लम्बी विभाजक रेखा खिंची हुई है।

दोनों का प्रेम एकनिष्ठ है। 'पुरातन संस्कारों की कायल प्रेमा का 'नये विचारों के युवक केशव से प्रेम हो जाता है। प्रेमा और केशव एक बिरादरी के नहीं हैं अतः पिता की ओर से प्रेमा को अस्वीकृति ही हाथ लगती है। उधर केशव प्रगतिवादी है और प्रेम का अन्त विवाह में ही समझता है। जैसे-तैसे प्रेमा के पिताजी केशव से सम्बन्ध जोड़ने को राजी हो जाते हैं किन्तु उधर अपने परिवार में तथाकथित प्रगतिवादी केशव परिस्थिति का सामना नहीं कर पाता और प्रेमा को उत्तर में लिख भेजता है "पुरानी बातों को भूल जाना। उस समय मैंने इन बाधाओं की कल्पना नहीं की थी।" परिणाम स्वरूप प्रेमा को जो कि हृदय से केशव का ही आत्म-समर्पण कर चुकी थी आत्म-हत्या करनी पड़ती है इसके अतिरिक्त उसे कोई अन्य मार्ग नजर नहीं आता। इस प्रकार प्रेमा के चरित्र में एक ही प्रमुख विशेषता है—एकनिष्ठता। वह शुद्ध प्रेमिका है बिना प्रेम-पात्र के वह जी ही नहीं सकती और इसमें संदेह नहीं कि उसके यथार्थावलम्बित करुणान्त का कारण व्यक्ति की अपेक्षा समाज ही अधिक है।

किन्तु उपर्युक्त दृष्टि से सिलिया का चरित्र अधिक महत्त्वपूर्ण है।

एकनिष्ठता उसमें भी उतनी है जितनी कि प्रेमा में। पर वह सामाजिक परिस्थितियों से ऊपर उठी हुई है। मानसिक धरातल पर माने गए प्रेम का ही वह आजीवन निर्वाह करती है। सिलिया चमारिन है पर उसके रूप पर मोहित होकर पण्डित दातादीन का सपूत मातादीन उसके प्रेम का दम भरने लगता है और फिर धीरे-धीरे प्रेम की आड़ में रूप को लूटता है। कभी उसने कहा था 'सिलिया जब तक दम में दम है तुम्हें ब्याहिता की तरह रखूँगा। किन्तु अब सिलिया का तन और मन दोनों लेकर भी बदले में कुछ नहीं देना चाहता है। 'उसकी ममता को वह बड़े कौशल से नचाता रहता है। खेतों में उससे काम कराता है और नौकरानी से अधिक उसे नहीं समझता। पर सिलिया है कि बिरादरी द्वारा तिरस्कृत तथा परिवार द्वारा प्रताड़ित होने पर भी कहती जाती है, मर जाऊँगी पर हरजाई न बनूँगी। एक बार जिसने बाँह पकड़ ली उसी की रहूँगी। और मातादीन से साहसपूर्वक कहती है जो रस्सी तुम्हारे गले में पड़ गई है उसे लाख चाहो नहीं छोड़ सकते। और न मैं तुम्हें छोड़ कर कहीं जाऊँगी। मजूरी करूँगी भीख माँगूँगी लेकिन तुम्हें न छोड़ूँगी। इस प्रकार सिलिया में एकनिष्ठता के साथ आत्मसम्मान रक्षा की सामर्थ्य भी है। जब उसकी सखी सोना ही अपने पति के घर में आधी रात को उसके आगमन पर संदेह करती है तो वह अपने अपमान के कारण निस्संज्ञ-सी हो जाती है। होरी के घर में बच्चे को जन्म देती है किन्तु मजे की बात यह है कि अब भी मातादीन द्वारा बहिष्कृता होने पर भी वह हृदय से उस के प्रति अनुराग रखती है और एक अज्ञात प्रतीक्षा के सहारे जिये जाती है। उधर मातादीन का पितृ-हृदय भी जागता है। वह छिप-छिप कर अपने बच्चे को देखने भी आता है—तब जब सिलिया घास बेचने गई होती है और अन्तत: जब वह कहता है "मैं ब्राह्मण नहीं चमार ही रहना चाहता हूँ। जो अपना धम पाले वही ब्राह्मण है जो धर्म से मुँह मोड़े वही चमार है" तो सिलिया उसे क्षमा कर देती है और उस के गले में बाँहें डाल देती है। इस प्रकार सिलिया स्वयं अपनी सामर्थ्य के सहारे ऊपर उठती है। 'प्रेमा' के चरित्र में जहाँ एकनिष्ठता के साथ परिस्थितियों में दब कर निज को समाप्त कर देने की भावना है वहाँ सिलिया के चरित्र में वासनात्मक व्यापार के होते हुए भी एकनिष्ठता ही नहीं अपितु संघर्षों से ऊपर उठने की शक्ति विद्यमान है। सहानुभूति सहनशीलता सेवा त्याग तथा क्षमा उसके प्रेम के अनिवार्य अंग हैं। वस्तुत: वह झुकती भी है तो आत्मसम्मान-रहित होकर नहीं और प्रभा स्वभाव भी करती है या आत्मसम्मान-सहित नहीं। प्रेमा सर्वस्व छिन जाने

पर किसी को कुछ भी देने की दशा में नहीं आ पाती किन्तु सिलिया अन्त तक देती ही रहती है— लेने की आदत उसे नहीं है क्योंकि उसे अपनी कर्मठता पर विश्वास है। इस दृष्टि से सिलिया का चरित्र निश्चय ही प्रेमा पर हावी हो जाता है।

जैनी तथा माधवी

'सेवासदन' की तारा तथा 'आत्माराम' की भद्रा की भाँति ही प्रेम की वेदी (नाटक) की जैनी तथा गबन की माधवी प्रेमचन्द के उन नारी पात्रों में से है जो आदर्शोन्मुख तो है किन्तु मनोविज्ञान से बहुत-कुछ दूर जा पड़े है। यही कारण है कि इनमें एक प्रकार की निरीहता-सी तो है सजीवता नहीं।

जैनी क्रिश्चियन है। नाटक के पूर्वार्द्ध के अधिकांश में वह उस अभारतीय युवती के रूप में चित्रित हुई है जो विवाह को कारावास पुरुष की निष्ठुरता तथा स्वच्छन्दता को जीवन मान कर चलती है। इसी दौरान अपनी सहेली उमा के पति योगराज के व्यक्तित्व से प्रभावित होकर उसकी ओर आकृष्ट होती है और उसके अपने स्वभाव में भी अन्तर आ जाता है। तीन बार के गर्भपात की दुःखता के कारण उमा चल बसती है। जैनी को अब योगराज का अधिक सामीप्य मिलता है। योगराज जैनी में ही उमा को देख कर विवाह की इच्छा प्रकट करता है। जैनी इच्छा रखती हुई भी कहती है 'नहीं नहीं मैं तुम्हें समाज में अछूत नहीं बनाना चाहती।' अतः वह योगराज को छोड़ कर अपनी माँ के पास चली आती है। वहाँ उसे योगराज की अप्रत्याशित मृत्यु का तार मिलता है और वह मोटर लेकर यह अलापती हुई चल पड़ती है "कहीं प्रभात के शुभमुहूर्त में एकदम (योगराज) से मेरा विवाह होगा वहीं धूमधाम के साथ हवन-कुण्ड की परिक्रमा करके श्लोक और मन्त्र पढ़ कर। मेरे लिए आल्टर और हवन-कुण्ड में कोई अन्तर नहीं रहा। मुझे शक्ति दो ईश्वर कि आजीवन इस व्रत को निभा सकूँ।" परिणामस्वरूप जैनी योगराज की स्मृति से ही विवाह करके बैठ जाती है दूसरे शब्दों में वह भावयोगिनी बन जाती है। किन्तु जैनी के चरित्र का यह विकास अस्वाभाविक है। एक तो उसके जीवन की मान्यताओं एवं संस्कारों में उतना शीघ्र परिवर्तन या मोड़ आ ही नहीं सकता दूसरे योगराज का चरित्र भी इतना असाधारण नहीं है कि वह उसकी स्मृति की पुजारिन बन सके—तीसरे जैनी जैसे रंगीन पात्र

से इस आदर्श-पालन की सतत सम्भावना भी नहीं की जा सकती। वस्तुतः जैनी एक अपरिपक्व पात्र है। वह स्वयं आत्मविरोध रहित नहीं है अतः उस का आदर्श भी स्वस्थ एवं सन्तुलित नहीं है। हमें यह कहने में हिचक नहीं होनी चाहिए, (सोफिया भी इस तथ्य की साक्षी है) कि प्रेमचन्द अभारतीय नारी-पात्रों को भारतीय आदर्शों की ओर उन्मुख दिखा कर भी उनके प्रेम चित्रण में भटक-से जाते हैं। कोई भी पग उठाते समय समाज के प्रति उपयोगिता की दृष्टि जैसे उनकी लेखनी पकड़ लेती है। कहीं अच्छा तो यही होता कि वह जैनी तथा योगराज का विवाह ही कर देते। इस तरह सम्भवतः उसका चरित्र अधिक विश्वसनीय हो जाता—और अधिक नहीं तो पाठक के लिए कम से कम एक सुझाव का उपस्थापन तो हो ही जाता।

'वरदान' की माधवी भी कोरे आदर्श का ही परिणाम है। है तो वह भी परिस्थितिजन्य भावोन्मुखी ही किन्तु भिन्न परिस्थितियों के आधार पर वह जैनी से कहीं अधिक सफल पात्र है। विरजन जिसे कि बाल्यावस्था से ही प्रताप (देश-सेवक बालाजी) से प्रेम था कहीं अन्यत्र विवाहित हो जाने के उपरान्त अपनी सेविका की पुत्री माधवी को उनके योग्य पत्नी के रूप में तैयार करती है। माधवी में वह आरम्भ से ही सेवा-संस्कार अंकुरित करती है जिसके परिणामस्वरूप माधवी हृदय से अनदेखे बालाजी को पति-रूप में स्वीकार कर लेती है और बालाजी से साक्षात् हो जाने के उपरान्त भी वह विवाह से उन्हें बांधती नहीं अपितु सेवा मार्ग पर अग्रसर होते रहने की प्रेरणा प्रदान करके स्वयं प्रेम-योगिनी हो जाती है। इस प्रकार, माधवी के प्रेम व आदर्श का आधार जैनी से कहीं अधिक दृढ़ व्यापक अन्यान्याश्रय स्व की सीमा से उठा हुआ तथा विश्वसनीय है। माधवी प्रेम का चरम विकास सेवा में ही समझती है किन्तु जैनी के चरित्र में सेवा नाम की कोई वस्तु नहीं है। वैसे माधवी के चित्रण में भी प्रेमचन्द भूल कर गए हैं और उस भूल को अपनी अगली कृतियों में उन्होंने सुधारा भी है। माधवी के चरित्र में उन्होंने विवाह को सेवा मार्ग में बाधा के रूप में ही लिया है। यह प्रेमचन्द-पूर्व नैतिक उपन्यासों का प्रभाव है जो कि उनके प्रारम्भिक दोनों उपन्यासों में स्पष्टतः परिलक्षित होता है। किन्तु ज्यों-ज्यों उनकी लेखनी प्रौढ़ होती गई, त्यों-त्यों उसे समाज तथा यथार्थ की भी अधिक पहचान होती गई। यही कारण है कि 'वरदान' के पश्चात् उनकी किसी भी कृति में, किसी भी प्रधान पात्र को माधवी-सा चरित्र रूप नहीं दिया गया है।

मालती

'गोदान' के सभी पात्र किसी-न-किसी वर्ग का प्रतिनिधित्व करते हैं। मिस मालती भी इसका अपवाद नहीं है। उसके द्वारा प्रेमचन्द ने उस नागरिक नारी-वर्ग का प्रतिनिधित्व कराया है जो नारी को घूँघट-पट की वस्तु नहीं अपितु समाज की स्वच्छन्द इकाई तथा पुरुष की समतुल्या समझता है जो यह मानकर चलता है कि जिस प्रकार पुरुष पुरुष के साथ मित्र-भाव से रह सकता है उसी प्रकार स्त्री-पुरुष भी परस्पर पति-पत्नी भाव से ही नहीं भाई-बहन के भाव से भी नहीं मित्र-भाव से भी एक साथ रह सकते हैं और जिसके अन्तर तथा बाह्य में प्रायः वपम्य हुआ करता है। उपयोगितावादी प्रेमचन्द ने मालती के अतिरिक्त मालती-वर्ग के किसी भी अन्य पात्र का कहीं भी प्रधान रूप से चित्रण नहीं किया है। कारण यह है कि इस प्रकार के चित्रण में व्यक्ति को अधिक उभारने के हेतु उसके समालोचपयोगी रूप से दूर जाना पड़ता है और यह प्रेमचन्द को पसन्द नहीं है अन्यथा वह मालती के चरित्र में मोड़ लाए बिना भी उसे छोड़ सकते थे।

मालती के भी अन्तर तथा बाह्य में सामंजस्य नहीं है। उसके चरित्र के प्रारम्भिक रूप में बहिरंग तत्त्वों का प्राधान्य है और उत्तरार्द्ध में आभ्यंतरिक गुणों का। स्वयं प्रेमचन्द लिखते हैं "मालती बाहर से तितली है भीतर से मधु मक्खी। उसके जीवन में हँसी-ही-हँसी नहीं है केवल गुड़ खाकर कौन जी सकता है। और जिये भी तो वह कोई सुखी जीवन न होगा। वह हँसती है इसलिये कि उसे इसके भी दाम मिलते हैं" "वह इसलिये चहकती और विनोद करती है कि इससे उसके कर्त्तव्य का भार कुछ हल्का हो जाता है।" उसके दवाव पिता फालिज गिरने से बेकार हो गए थे जिस पर शराब का शौक हो जवान बहनें और मां इन सबका भार मालती ही को वहन करना पड़ता है। अतः "मालती सुबह से पहर रात तक दौड़ती रहती है। उसके अधरों की मुस्कान झूठी है और उसी को बनाए रखने के लिए ही वह पुरुष-समाज में भी निर्द्वन्द्व एवं अबाध गति से घूमती रहती है अपने बहिरंग में अन्तरंग को दबाती चलती है।

मालती के चरित्र के प्रारम्भिक अथवा बहिरंग पक्ष में वे सभी विशेषताएँ हैं जो एक मुक्त नारी में होती है। हाँ व्यभिचारिणी वह कदापि नहीं है। उसने इग्लैंड से डाक्टरी पास की है अतः उसके शरीर प्रसाधन उसी रंग में पगे हुए हैं। ऊँची एड़ी का जूता लाली आदि अन्य शृंगार-सामग्री के अतिरिक्त गात भी कोमल है जिसमें चपलता कूट-कूटकर भरी हुई है। नारी-सुलभ लज्जा

का नाम निशान नहीं' सुने बाजार में सुनाती है 'मैंने प्रतिज्ञा की है किसी फिलासफर से शादी करूँगी।' वक्ता की वाकपटु भी है खन्ना की लगाम खींच सकती है तो मेहता को उभार भी सकती है। आमोद-प्रमोद में मस्त रहती है संपादक ओंकारनाथ को शराब पिलाकर वह उल्लू बनाती है कि आजीवन याद रखे। "पुरुष-मनोविज्ञान की अच्छी जानकार" होने का दावा भी करती है; खन्ना की त्रुटियों से फ़ायदा उठाती है तो मेहता के पौरुषयुक्त गुणों पर रीझ भी जाती है ईश्वर में विश्वास नहीं किन्तु दूसरे के भय से आपत्तियों में याद भी कर लेती है। अभिनय की कला में भी निपुण है पुस्तकों का अध्ययन विशेष नहीं है किन्तु बात करती है तो ऐसे जैसे बचपन से ही विषयाविषयक रहा हो। अवसरवादिता का महत्त्व देती है सरकार की चाटुकारी करके भी यदि ऊपर उठा जा सकता है तो सम्पादक ओंकारनाथ को सलाह देती है, इसमें कोई हर्ज नहीं है। स्वयं सिद्धान्तों के प्रति निम्न मत है किन्तु दावा यह है कि सिद्धान्तवादिनी है और यह भी कि "जो व्यक्ति कर्म और वचन में सामंजस्य नहीं रख सकता वह और चाहे जो कुछ हो सिद्धान्तवादी नहीं है।" औचित्यवादिनी भी परले दर्जे की है "मगर धन से विशेष प्रेम रखती है" चुनाव में जाना चाहती है "मगर फ्री पास मिल जाय तो"। जिस किसी से भी स्वार्थ सध सकता है उसे ही अपना समझती है और इस भावना का स्पष्टीकरण इस प्रकार करती है कि "मैं मानवतावाद की हत्या नहीं कर सकती। वह जायेंगे तो मैं दुत्कारूँगी नहीं।" साधारण जीवन में कभी दया करना सीखा नहीं अतः मेहता से प्रेम भी करती है तो उसमें ईर्ष्या को छिपा नहीं पाती' श्रीम युवती के प्रति इसीलिये उपेक्षा का दृष्टिकोण रखती है कि मेहता उसे सराहनीय समझते हैं। विवाह उसकी दृष्टि से उत्तमक और पोषक पदार्थ है आत्मा की तृप्ति नहीं यही कारण है कि मेहता उसके साथ निर्लिप्त रहने का ही आयास करते हैं। संक्षेपतः प्रेमचन्द के शब्दों में "आप नवयुग की साक्षात् प्रतिमा हैं। किन्तु नवयुगीन ही सही नारीत्व यहीं तक सीमित होकर रह जाये—यह प्रेमचन्द को मान्य नहीं। अतः वह मालती को मेहता जैसे आदर्शवादी नारी-उपासक की ओर आकृष्ट करते हैं।

मेहता के सम्पर्क में आकर मालती में नवजीवन का उदय होता है—यही मालती की चरित्राभिव्यक्ति का उत्तरार्ध है। मेहता से उसे शनैः-शनैः प्रगाढ़ प्रेम हो जाता है और यह प्रेम-स्पर्श ही उसकी सुप्तानुभूतियों को जागृत करके जीवन के गाम्भीर्य की ओर प्रेरित करता है। मालती समझ जाती है कि यह ठीक है कि अपने पहले वर्षों में भी वह परिवार के प्रति अपना कर्त्तव्य निभाती

रही है किन्तु उस कर्तव्य-मार्ग में सदैव फिसलने की आशंका है। अतः वह
अपनी इच्छाओं को सीमित तथा स्वयं को अधिक आत्म-निर्भर एवं स्वतःपूर्ण
रखने का प्रयत्न करती है। अम्मा को कौतूहल होता है "अब मालती अपने
हाथ से खाना बनाने लगी है।" पुरुष-समाज में निर्बाध गति से भी अब वह
नहीं जाती' अम्मा का मुँह देखे महीनों गुजर जाते हैं। वह मालती जिसने दया
करना सीखा ही नहीं था वह अब भावुक है और दया तथा सहानुभूति से भी
परिचित है। मेहता के एक व्यंग्य-वाक्य को सुनते ही उसके आँसू ढुलक आते
हैं। व्यायामशाला के लिए वह पाँच सौ रुपये का दान भी देती है। वह धन-मय
को तुच्छ समझती है किन्तु धन से प्रेम बढ़ा है इस सत्य पर भी अब उसे पूर्ण
विश्वास है" वह अम्मा से निर्भीकतापूर्वक कहती है "यह समझ लो कि धन ने
आज तक किसी नारी के हृदय पर विजय नहीं पाई और न कभी पायेगा।"
वात्सल्य के स्थान पर एक विनम्रता भी उसमें आ गई है" "इन्होंने (मेहता ने)
मार-मारकर वैद्य बना दिया इनका हुक्म कैसे टाल सकती"—इसमें एक
ममता एवं आदर की भावना निहित है। मेहता के सम्पर्क में आकर मालती
की त्याग तथा सेवा की भावनायें भी जाग उठती हैं। मेहता ग्राम सुधारक
हैं सेवा ही अब उनका स्वार्थ होती जाती थी और उनकी इस उदारवृत्ति
का असर प्रभाव रूप से मालती पर भी पड़ता जाता था। अब तक जितने
मर्द उसे मिले सब ने उसकी विलास-वृत्ति ही को उकसाया। उसकी त्यागवृत्ति
दिन-दिन क्षीण होती जाती थी पर मेहता के संसर्ग में आकर उसकी त्याग
भावना सजग हो उठी थी। सभी मनस्वी प्राणियों में यह भावना छिपी
रहती है और प्रकाश पाकर चमक उठती है। आदमी अगर धन या नाम के
पीछे पड़ा है तो समझ लो अभी तक वह किसी परिष्कृत आत्मा के सम्पर्क
में नहीं आया।" मालती अब ग्रामीण सुधार में मेहता को सहयोग देती है
और गरीबों के घर बिना फीस लिये ही मरीजों को देखने चली जाती है।
सामाजिक समस्याओं पर सोच-विचार करने की असाधारण क्षमता भी उसमें
आ गई है। वह कोई पूर्वाग्रह लेकर नहीं चलती— "पुरुष निर्दयी है माना
लेकिन है तो इन्हीं माताओं का बेटा। क्यों माता ने पुत्र को ऐसी शिक्षा नहीं
दी कि वह माता की स्त्री-जाति की पूजा करता ? मालती में वात्सल्य का
हल्का-सा पुट भी तब मिलता है जब वह आधी रात को अपने नौकर गोबर
के बच्चे को दुलराती है। इसके साथ ही उसकी प्रेम-भावना भी महत्त्वपूर्ण है
यह प्रेम का मूल अन्य विश्वास से मानती है। उसका प्रबल विश्वास है कि
निश्छल प्रेम में परीक्षा की चर्चा करना उसमें संशयों को भरना ।

वह देखती है कि जिस मेहता के प्रति वह अर्चना का भाव रखती है वही उस के ऊपर शंकित प्रश्न उठाता है तो वह मान करती हुई कहती है "क्या तुम इतना भी नहीं जानते कि नारी परीक्षा नहीं चाहती प्रेम चाहती है। परीक्षा गुणों को अवगुण सुन्दर को असुन्दर बनाने वाली चीज है प्रेम अवगुणों को गुण बनाता है, असुन्दर को सुन्दर। मैंने तुमसे प्रेम किया मैं कल्पना ही नहीं कर सकती कि तुम में कोई बुराई भी है, मगर तुमने मेरी परीक्षा की और तुम मुझे अस्थिर-चंचल और जाने क्या-क्या समझकर मुझसे हमेशा दूर भागते रहे'' प्रेम देह की वस्तु नहीं आत्मा की वस्तु है। संदेह का वहाँ जरा भी स्थान नहीं और हिंसा (प्रतिद्वन्द्वी को देखकर प्रेमपात्र की) तो संदेह का ही परिणाम है। वह सम्पूर्ण आत्मसमर्पण है। उसके मन्दिर में तुम परीक्षक बनकर नहीं उपासक बनकर ही वरदान पा सकते हो।" इस प्रकार जब उसे विश्वास हो जाता है कि मेहता की दृष्टि परीक्षक की है तो उसका गर्व एवं आत्मसम्मान आहत हो उठते हैं। "आज मेहता ने जैसे उसे ठुकरा कर उसकी आत्म-शक्ति को जगा दिया। उसके मन में आलोड़न चलता रहता है और वह अन्ततः यही निश्चय करती है कि "मित्र बनकर रहना स्त्री पुरुष बनकर रहने से कहीं सुखकर है। और वह मेहता से आग्रह करती है कि सेवा-मार्ग ही सर्वोत्तम मार्ग है अतः वह उसका पथ-दर्शक मित्र बनकर ही उस पथ पर बढ़ता चले। मेहता उसके चरणों पर गिर पड़ता है और अन्ततः दोनों आलिंगनबद्ध होकर वैसे पृथक रहने की शपथ लेते हैं।

इस प्रकार एक विलासिनी से उठाकर मालती को समाज-सेविका का रूप दिया गया है। प्रेमचन्द के पुराने पाठक को इसमें कुछ भी अस्वाभाविक नहीं लगता क्योंकि वह इसका चिरकाल से अभ्यस्त हो चुका होता है और प्रेमचन्द भी मानकर चलते हैं कि यह परिवर्तन अप्रत्याशित नहीं होता। हमें इस विषय में कुछ नहीं कहना है किन्तु इतना अवश्य है कि मेहता के मुख से जिस निवृत्तिमार्ग तथा प्रवृत्तिमार्ग के सामंजस्य—सेवामार्ग—की बात कहलाई गई है दोनों के मिश्र-भाव से उसका सर्वग्राह्य रूप स्पष्ट नहीं होता। वस्तुतः मालती के चरित्र-माध्यम से प्रेमचन्द ने नारी के उस आधुनिकतम रूप को प्रस्तुत किया है जिसका अंकन परवर्ती उपन्यास-साहित्य में मनोविज्ञान की आड़ लेकर कुण्ठाओं के विश्लेषण के रूप में बहुलता से हुआ है। यह तो ठीक है कि एक तितली-वृत्ति की नारी भी सुसंगतिवश जीवन की गम्भीरता में उतर सकती है किन्तु वह प्रेमी से पति नहीं अपितु आजीवन मित्र रूप में ही आलिंगन-बद्ध होकर रह जाये—यह भारत भूमि पर शिक्षित समाज-सापेक्ष

सत्साहित्य का स्वस्थ तथा व्यावहारिक दृष्टिकोण कदापि नहीं है। वस्तुतः मालती और कायाकल्प की लौंगी एक ही प्रेम-समस्या के दो आत्यन्तिक छोर हैं जिनमें एक भारतीय है दूसरा अभारतीय। सामाजिकता की नजर से दोनों को ही अपनाना कठिन है। जहाँ तक चरित्र चित्रण की कला का प्रश्न है 'गोदान' के अन्य पात्रों ही की भाँति मालती के चित्रण में भी प्रेमचन्द को असाधारण सफलता मिली है। समष्टि चरित्र की अपेक्षा वह व्यष्टि चरित्र ही अधिक है।

(ख) परिणीता रूप

सुमित्रा

प्रेमचन्द की नारी-भावना तथा चरित्र चित्रण की दृष्टि से 'प्रतिज्ञा' की सुमित्रा का महत्त्व उतना अधिक नहीं है जितना कि हिन्दी-उपन्यास में चरित्र विकास की परम्परा की दृष्टि से। ऐतिहासिक दृष्टि से वह अपने ढंग का सर्वप्रथम चरित्र है जो किसी भाँति भी 'सेवासदन' की सुमन आदि से गौण नहीं है। तो भी इस बीच में उसे गलत समझ लेने का अंदेशा बना रहता है और विशेषतः उसे पुरुष-समाज के प्रति विद्रोही पात्र समझकर बहुत से भक्तों द्वारा अप्रत्याशित त्याग दिया भी गया है। ऐसा हम तभी समझते हैं जब उसके वास्तविक चरित्र के साथ चिपकाये गए दो-चार विद्रोह-वाक्यों को ही सत्य मानकर मान अहंकार, आत्म-सम्मान विद्रोह तथा विचार और कर्म के परस्पर सम्बन्ध को सूक्ष्म दृष्टि से नहीं परखते।

सुमित्रा एक अभिमता है मान-अभिमता। मान ही उसके चरित्र की सर्वाधिक सबल वृत्ति है। रीतिकालीन नायिका भी व्यक्तित्व के अभिमत होने पर भी शारीरिक सुख भोग के हेतु पति पर आसक्त रहती थी किन्तु प्रेमचन्द की सुमित्रा चुप बैठने वाली नहीं है। उसके मान का जितना ही तिरस्कार होता है वह उतना ही अधिक मान करती है। उसका विश्वास है कि यदि पति उसके प्रतिकूल है तो वह भी क्यों किसी के अनुकूल चले। वह पूर्णा से कहती है "कल महाशय रात भर गायब रहे समझती होंगी मनाने आती होगी। मेरी बला जाती। मैंने अन्दर से द्वार बन्द कर लिये"। उसका पति कंजूस है किन्तु वह जानबूझ कर उसे दिखा दिखाकर खर्च करती है। एक ओर तो वह पूर्णा से कहती है "अगर मुझे कहीं आश्रय होता तो इस घर में क्षण भर भी न रहती" और दूसरी ओर जब कमला (पति) उसे पिता के घर चली जाने को कहता है तो वह मानपूर्वक कहती है "मेरा घर नहीं है यहाँ से और

कहीं नहीं जा सकती। पति अपनी आदत के अनुसार विमुख है पूर्णा भी रो रही होती है किन्तु उधर सुमित्रा हारमोनियम पर गाती हुई दीखती है। और जब उसे सन्देह ही नहीं विश्वास हो जाता है कि कमला विधवा पूर्णा पर आसक्त है और उसकी पूर्णरूपेण अवहेलना कर रहा है तो वह कमला की तनिक भी परवाह करना छोड़ देती है। इस प्रकार सुमित्रा एक पूर्ण मानवती है। उसके इस आचरण को देखकर प्रेमचन्द लिखते हैं "रमणी का मान अजेय है अमर है अनन्त है किन्तु सच तो यह है कि रमणी का मान नहीं अपितु उसका पत्नीत्व अमर है उसमें अन्तर्निहित प्रेम की प्यास अनन्त है। कहने का तात्पर्य यह कि सुमित्रा की मनोदृष्टि को ढालने वाला सबसे प्रबल तत्त्व उसका असन्तुष्ट पत्नीत्व है। वह व्यवहारतः मध्यवर्गीय होती हुई भी आर्थिक स्तर की दृष्टि से एक उच्चवर्गीय स्त्री है। पति तथा पीहर, दोनों ओर से उसे रहन-सहन की किसी भी सामग्री का अभाव नहीं। अतः बाह्य संघर्ष नाम की कोई वस्तु उसके जीवन में नहीं है। ऐसी अवस्था में और भी स्वाभाविक है कि पति के प्यार की चाह उसे अधिक तीव्र हो किन्तु उसे वह प्यार मिलता ही नहीं। कमला बारह-बारह बजे तक रात को लौटता नहीं है। सुमित्रा समझती है "मेरा विवाह तो महल से हुआ है"। वह पूर्णा से कहती है "मुझे तो यह रोना है कि इनके हृदय ही नहीं। कमरे में आते हैं तो पहली बात जो इनके मुँह से निकलती है वह यह है कि अभी तक बत्ती क्यों नहीं बुझाई। इसलिये एक अमर्ष की भावना धीरे-धीरे उसके मन में तीव्रतर होती जाती है। उसका मान थोड़ा उग्र रूप धारण करता है। इतना होने पर भी वह पति के हृदय को पाने के लिए नित्य नये-नये शृंगार करती है। जब पति को उसकी परवाह नहीं होती वह ऊपर से मान के प्राबल्य को रखती हुई भी भीतर से उसके सभी कार्यों को शंकित दृष्टि से देखती है। कमला दो साड़ियाँ लाता है एक पूर्णा के लिए, एक उसके लिए। पति की भ्रमर-वृत्ति को ताड़कर वह जल उठती है दोनों साड़ियों को उठाकर नीचे भरे पानी में फेंक देती है। वह पूर्णा से पुरुषों द्वारा स्त्रियों पर किये गए युगयुगान्तरों के अत्याचारों के प्रति विक्षोभ प्रकट करती हुई अपने आप को एक विद्रोहिणी भी बताती है किन्तु वास्तविकता यही है कि मान का गहरा स्वांग भरती हुई भी पति-वृक्ष के साये में विश्राम के लिए लालायित ही रहती है। "सारे किले और ठिकाने धँसते जाते थे—पर अभी तक मान का बन्धन नहीं टूटा था—रमणी का हृदय अपनी पराजय स्वीकार न कर सकता था।" वह कमला को मनाने के लिए एक पत्र उसके द्वार तक जाती भी है किन्तु मान रक्षा अथवा संकोच

के कारण भीतर कदम नहीं रख पाती। इतने में परिस्थिति और भी बिगड़ जाती है। पूर्णा पर कमला का प्रेम उसे ज्ञात हो जाता है। अतः वह और भी अधिक वेग से पति का प्रतिकार करती है। दूसरी ओर जब पूर्णा घर से जाने लगती है तो वह उसे रोकती भी नहीं। निश्चित रूप से उसके मन में यही विचार होता है कि सम्भवतः ऐसा हो जाने से पति की दृष्टि उसकी ओर आकर्षित हो जाये। अन्ततः जब उसका पति ठोकर खाकर ठीक मार्ग पर आ जाता है तो वह उसकी शरण पाकर जैसे कृतकृत्य हो जाती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सुमित्रा के चरित्र में मान तथा पत्नीत्व का संघर्ष विद्यमान है किन्तु उसका मान पति के वशीकरण का मन्त्र मात्र ही है। उसके चरित्र में मान की अपेक्षा व्यापी पत्नीत्व का प्राबल्य है। आत्मसम्मान की चरम सीमा को उसका मान स्पर्श नहीं कर पाया है। स्पष्ट शब्दों में उसका आत्मसम्मान अथवा अहं मान मात्र बनकर रह गया है। वह उच्च है किन्तु उच्चतम नहीं। 'प्रेमाश्रम' की विद्यावती और 'निर्मला' की सुधा—इसके उच्चतर तथा उच्चतम रूप हैं।

पत्नी-रूप में सुमित्रा की विद्रोहिणी भूमिका मात्र से भी चर्चा की जाती है। निश्चय ही इस तथ्य की अभिव्यक्ति 'प्रतिज्ञा' में हुई है। पूर्णा से वह पूछती है "आखिर पुरुष अपनी स्त्री पर क्यों इतना रौब जमाता है? बहन कुछ तुम्हारी समझ में आता है?" पूर्णा उत्तर देती है कि पुरुष ने स्त्री की सदैव रक्षा की है फिर रौब क्यों न जमाये। इस पर सुमित्रा कहती है "रक्षा की है तो अपने स्वार्थ से कुछ इसलिये नहीं कि स्त्रियों के प्रति उनके भाव बड़े उदार हैं। अपनी वासना के लिए उन्हें सन्तान की जरूरत न होती तो कोई स्त्री की बात भी न पूछता"। वह यह भी कहती है "मजा तो तब आवे जब लड़की वाले भी लड़कियों का दहेज लेने लगें।" इतना ही नहीं वह यह भी कहती है "अगर मर्द अपने परिवार भर को खिला सकता है तो क्या स्त्री अपनी कमाई से अपना पेट भी नहीं भर सकती।" किन्तु वह केवल यह सब कहती ही रहती है करती कुछ भी नहीं। उसके चरित्र में आत्मिक साहस नहीं है उसमें विचार और व्यवहार का वैषम्य है। ऐसा लगता है मानो वह किसी सुधारवादी की वक्तृता को निगल आई हो और पूर्णा के सामने बराबर उसे निकालकर फेंक रही हो। वह जब पति से यह कहती है कि "मैं अदालत में लड़कर पाँच सौ रुपया महीना ले लूँगी" तो उसका कारण वह धर्म होती है जो पितृपक्ष से पचास रुपये मासिक के रूप में उसे मिलती है। ऐसा न होता तो अपने विद्रोही स्वरूप को उसने क्रियान्वित करके दिखा दिया होता। किन्तु

वह तो जैसे अन्त में कुमार्गी पति का भी स्वागत करने को खड़ी दीखती है "अब ठीक हो गए। बदनामी हुई तो क्या पर ठीक रास्ते पर आ गए। अब तो जो कुछ हैं मैं हूँ"—बस सुमित्रा की परितृप्ति के लिए तो इतना ही पर्याप्त है। विचार और व्यवहार में साम्य के स्थान पर उसमें एक अजीब खोखला सा अधीरापन विद्यमान है जो उसके चरित्र को अस्पष्ट और सस्ता बना देते हैं। कभी पति को कहती है "ऐसे बेहया मत नहीं करते हो," कभी लम्पट कभी धूर्त और कभी क्या नहीं। वस्तुतः चरित्र चित्रण की दृष्टि से प्रेमचन्द यहाँ बहुत सफल नहीं रहे हैं। तिस पर भी श्री हंसराज 'रहबर' लिखते हैं "सुमित्रा तो ऊँचे—बहुत ऊँचे—स्थल पर खड़ी परिस्थितियों पर, दुःखों और विपत्तियों पर जैसे मुस्करा रही है। वह दया की मुहताज नहीं है" उसकी ऊँचाई का नमूना तो हम देख ही चुके हैं। जहाँ तक दया की मुहताज होने का प्रश्न है वहाँ इतना ही नहीं कि आजीवन जो कुछ भी उसने किया पति की दया प्राप्ति के हेतु ही किया अपितु वह जिसकी भी सहानुभूति पाती है उसी से दया की भीख माँगती है। जिस दिन पूर्णा उसके घर में आई उस दिन 'सुमित्रा पूर्णा से जलती थी' किन्तु अगले ही दिन वह रो रोकर याचना करती है "इस घर में मेरा कोई अपना नहीं है बहन जबरदस्ती पड़ी हुई हूँ मेरे मरने जीने की किसी को परवाह नहीं है। तुमसे यही प्रार्थना है कि मुझ पर दया रखना। इस दृष्टि से तो 'कुसुम' कहानी की कुसुम सुमित्रा से कहीं अधिक ऊँचे स्थल पूर्ण धरातल पर खड़ी है।

निष्कर्षतः सुमित्रा के चरित्र को तीन दृष्टियों से आँका जा सकता है। पहली दृष्टि है चरित्र-चित्रण की। इस दृष्टि से यह एक शिथिल चरित्र है जो केवल गरज ही सकता है बरस नहीं अतः प्रारम्भिक प्रयास मात्र है। दूसरी दृष्टि है प्रेमचन्द की नारीभावना की। प्रेमचन्द नारी को त्याग सेवा आत्म सम्मान सहनशीलता तथा समर्पण आदि गुणों से समन्वित मानते हैं। त्याग नाम की वस्तु का लेश भी सुमित्रा में नहीं है—पिता द्वारा भेजे गए मासिक पचास रुपयों का बखान मात्र ही करते रहना त्याग नहीं कहलाता। पूर्णा को घर में ही रखकर उस असहाय विधवा को वह अपनी त्याग-शक्ति से ऊँचा उठाती तो निश्चय ही रोचक हो जाती। सेवा की बात तो यह कि सास तक को वह 'जलाती रहती है' फिर पति की सेवा द्वारा सन्मार्ग पर लाना तो बहुत ऊँची बात है। सहनशीलता भी उसमें नहीं है सहनशील व्यक्ति तो मुँह में आया बक नहीं देते। समर्पण का अर्थ होता है "मैं दे दूँ और न फिर कुछ लूँ"। समर्पण? ऐसा भी कोई विश्राम सुमित्रा को नहीं

है। इस प्रकार ले-देकर बची रहती है आत्म-सम्मान की भावना। एक तो यह भावना व्यक्ति-सीमित होने के नाते वैसे भी शेष सभी से गौण ठहरती है दूसरे सुमित्रा के चरित्र में वह भी मान अथवा मद के एक सीमित प्रकार तक ही रह गई है। और फिर एक तत्त्व का सफल निरूपण तो प्रेमचन्द कहानी में बहुत ही सुन्दर ढंग से करते हैं। किसी कहानी का विषय बनकर सम्भवतः सुमित्रा अधिक निखर गई होती। अतः प्रेमचन्द की नारी-भावना की दृष्टि से भी सुमित्रा एक अपूर्ण चरित्र है। तीसरी दृष्टि है ऐतिहासिक महत्त्व की। इस दृष्टि से निश्चय ही सुमित्रा हिन्दी-उपन्यास की महान उपलब्धियों में से एक है। साथ ही प्रेमचन्द की विकास-यात्रा के प्रथम समस्यात्मक चरण होने के कारण भी सुमित्रा का चरित्र महत्त्वपूर्ण है।

सुमन

सुमन प्रेमचन्द की एक ऐसी चरित्र-सृष्टि है जिसको सामयिक प्रसिद्धि तो बहुत मिली किन्तु जिसकी आवृत्ति उनके साहित्य में नहीं हुई। इसका कारण सम्भवतः यही है कि 'सेवासदन' पर पूर्व प्रेमचन्द नैतिक उपन्यासों तथा 'सरशार' आदि उर्दू उपन्यास लेखकों का प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष रूप से प्रभाव विद्यमान है। ज्यों-ज्यों प्रेमचन्द की नारी के प्रति निजी धारणा स्थिर होती गई त्यों-त्यों वह उसके शाश्वत मूल्यों की ओर आकृष्ट होते गए। वेश्या समस्या को उन्होंने एक-दो कहानियों को छोड़कर, पुनः नहीं उभारा। जहाँ प्रसंगवश चित्रण किया भी वहाँ वह उसकी विकृतियों के कारणों में न उलझ कर उसके सुधारोन्मुखी रूप को ही प्राधान्य देते रहे। केवल सुमन ही एक ऐसा चरित्र है जिसके माध्यम से इस समस्या पर उन्होंने बहुँमुखी दृष्टि डाली है और मध्यवर्गीय नारी की अवहेलना के परिस्थिति-सापेक्ष दुष्परिणामों का निदर्शन भी किया है। साथ ही अपनी नारी भावना के भावी स्वरूप के मानक भी सुमन की चरित्र-परिणति में से निर्धारित कर लिए हैं। इन दृष्टियों से सुमन का महत्त्व पहले की सभी परिणीताओं की अपेक्षा अधिक है। प्रेमा की समस्या को खोज मनोरमा में भी जा सकती है सुमित्रा की समस्या विद्यावती में समझी जा सकती है किन्तु सुमन को सुमन से बाहर जाकर ढूँढ़ना असम्भव-सा हो जाता है।

सुमन के चरित्र के स्पष्टतः तीन चरण हैं—संस्कारबद्ध नारी-रूप विकृत नारी-रूप तथा आदर्श नारी-रूप। प्रेमचन्द ने इन तीनों का क्रमशः एक-दूसरे से स्फुरण दिखाया है।

संस्कारबद्ध नारी-रूप के अन्तर्गत सुमन के चरित्र का वह पक्ष आता है जिसकी निर्मिति पिता के घर में ही हो चुकी होती है और जिसमें आबद्ध हो कर वह पति के घर आती है। पत्नी रूप में उसे अपने पहले के संस्कारों के सर्वथा विपरीत विषम परिस्थितियों का सामना करना पड़ता है किन्तु संस्कार गत भौतिक इच्छाओं को कोई समुचित मोड़ न दे पाने की असमर्थता में वह एक विकृत मार्ग पर बढ़ जाती है। दारोगा कृष्णचन्द्र की बड़ी लड़की सुमन कौमार्यावस्था में ही "दूसरों से बढ़कर रहना चाहती थी। यदि बाजार से दोनों बहनों की एक ही प्रकार की साड़ियाँ आती थीं तो सुमन मुंह फुला लेती थी। शान्ता (छोटी लड़की) को जो कुछ मिल जाता उसी में प्रसन्न रहती थी। उधर दारोगा जी भी किफायत-शुमार नहीं थे। इन लड़कियों को प्राण से भी अधिक प्यार करते थे। उनके लिए अच्छे-से-अच्छे कपड़े लाते थे और शहर से नित्य तरह-तरह की चीजें मंगाया करते। बाजार में कोई तरहदार कपड़ा देख कर उनका जी नहीं मानता था लड़कियों के लिए अवश्य ले आते थे कोई लूट के धन पर भी इस भाँति न टूटता होगा। लड़कियों को पढ़ाने और सीना-पिरोना सिखाने के लिये उन्होंने एक ईसाई लेडी रख ली थी"—यह है सुमन का आरम्भिक परिवेश जिसका प्रभाव उस पर सर्वाधिक पड़ता है। विवाह से पूर्व ही वह "सुन्दर चंचल और अभिमानिनी" है। प्रदर्शन की आदत भी उसमें है। चूल्हे में फूंक मारना उसने कभी नहीं सीखा गृहस्थी का वास्तविक धर्म उसने कभी नहीं समझा। आत्मा अथवा धर्म नाम की कोई वस्तु उसे ज्ञात नहीं है। उसमें इच्छाओं-ही-इच्छाओं का प्राबल्य है सुख-भोग ही उसके लिए जीवन-सर्वस्व है। स्वाभाविक है कि ऐसी युवती सम्पन्न समु राल में भी पति को जीवन-सर्वस्व मानकर नहीं चल सकती किन्तु सुमन का तो विवाह भी होता है तो एक पन्द्रह रुपये मासिक पाने वाले गुहाहु बाबू गजाधर प्रसाद से। इधर उसके पिता रिश्वत लेने के अपराध में कारावास में थे चल अथा कर उन्होंने रखा नहीं था फिर अच्छे वर की प्राप्ति कैसे सम्भव थी। उन्होंने तो जो वर चुना हुआ था वह सुन्दर-सुशील और सुशिक्षित" था—"कुछ ऊंचा और धनी भी। पर अब सुमन के मामा उमानाथ ने यह जानते हुए भी कि सुमन जितनी रूपवती और पढ़ी-लिखी है बोझ से दबकर गजाधर के रूप में मान लिया गुण और रूप की ओर से आँखें बन्द करके केवल कुलीनता ही को पकड़ा। सुमन की माता "जामाता को देखकर बहुत रोईं, उसे ऐसा दुःख हुआ मानो सुमन को किसी ने कुएं में ढकेल दिया। गजाधर के घर में और कोई प्राणी भी नहीं है, एक बूढ़ी बुआ थी वह भी

सुमन के आते ही बस जाती है। घर के पास से शोहदों की गुजर होती रहती है वेश्याओं के मकान भी घर के सामने ही हैं और पास-पड़ोस की स्त्रियाँ भी सभी-की-सभी निम्नवर्गीय हैं।—ऐसा है सुमन की ससुराल का परिवेश। परिणामस्वरूप वह अपने संस्कारों को बदल नहीं पाती है। "उसने गृहिणी बनने की नहीं इन्द्रियों के आनन्द भोग की शिक्षा पाई थी'। अतः पत्नी के रूप में वह पूर्णतः असफल है। गृह प्रबन्ध में सफल न होने के कारण महीने के आधे में ही पैसे खत्म हो जाते हैं नई साड़ियाँ तथा आभूषणों आदि की प्राप्ति भी उसके लिए सम्भव नहीं रहती। अतः दो ही महीने के उपरान्त उसे पति से वितृष्णा-सी हो जाती है। "उसका हृदय असन्तोष से व्याकुल रहने" लगता है। सुख प्राप्ति की उसकी तृष्णा फूट-फूट कर उबलने लगती है। सामने के मकान की भोली नाम की वेश्या के ऐश्वर्यमय जीवन को देख कर वह उसकी ओर आकृष्ट होती है। जिह्वा रस भोगने के लिए पति से कपट तो वह पहले ही करने लग पड़ी थी अब सौन्दर्य-रस की अतृप्ति भी मार्ग पा जाती है। घर के सामने से गुजरने वाले शोहदों को चिक की आड़ से ही एक झलक दिखा देती है। उसे स्वयं अपनी वृत्तियों की उत्तेजना के ऊपर एक बार थोड़ा-सा खेद भी होता है और वह गंगा-स्नान आदि के आडम्बरों द्वारा अपनी धार्मिक वृत्ति को जगाने का असफल प्रयत्न भी करती है पर वह संस्कारों के आगे पुनः दब जाती है। झूठी मान-गौरव उसे पुनः आकृष्ट करती है। वह देखती है कि भोली उससे कहीं अधिक सुखी है समाज के प्रत्येक स्थान पर उसका आदर होता है बड़े-बड़े लोगों की पलकें उसकी राह में बिछ जाती हैं—'मुझसे तो वेश्या भोली ही भाग्यशालिनी है।' वह भोली की ओर और भी आकृष्ट होती है। इसका अवसर भी उसे मिल जाता है जब एक रात अपनी नई सहेली सुभद्रा के घर से भोली का गाना देखकर रात को विलम्ब से लौटती है और गजाधर उसे घर से निकाल देता है। वह अपने मान के कारण क्षमा तक नहीं माँगती और जब सुभद्रा के समान सुखा एक पति ही उसकी ओर से उपेक्षा प्रकट करते हैं तो सुमन भोली के द्वार पर आ खड़ी होती है—वह वेश्या बन जाती है। यही है सुमन के चरित्र का पत्नी-रूप। इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि उसके इस रूप में निजी व्यक्तित्व निर्माण की विशेषताओं की अपेक्षा प्राधान्य है बाह्य परिस्थितियों का। पत्नी रूप में वह पूर्णतः असफल है। त्याग सेवा प्रेम आत्म-संयम आदि किन्हीं भी जीवन के शाश्वत मूल्यों की अपेक्षा उसमें काम और अर्थ की तीव्रता का ही प्राधान्य है। धर्म के संरक्षणाभाव में उसकी ये दोनों वृत्तियाँ ही विशृंखल

तथा अस्वस्थ हो कर प्रतिवादिता तक पहुँच जाती है। इस रूप में उसकी विशेषताएँ हैं—भोगलिप्सा सौंदर्याभिमान चांचल्य मिथ्या-मान प्रदर्शन असन्तोष तथा धर्म-लिप्सा। ऐश्वर्यहीन पति-प्रेम उसकी दृष्टि में प्रेम की संज्ञा को प्राप्त नहीं हो सकता वह उससे समझौता करने की बात तक नहीं सोचती। संस्कारों ने बहुत बुरी तरह से जकड़ रखा रहा है उसे।

सुमन के चरित्र का दूसरा चरण है उसका विकृत नारी-रूप अर्थात् वेश्या रूप। इस रूप में उसे कुछ होश आता है और जीवन के यथार्थ का आभास होता है। पति के साथ उसका जीवन 'कर्णधार रहित नौका के समान' डोला करता था किन्तु अब वह स्वतंत्र है। उसे जीवन को थोड़ी गहराई से देखने और सोचने का अवसर मिलता है और साथ-ही-साथ समाज के खोखलेपन का साक्षात्कार भी होता है। वह यह भली भाँति देख लेती है "कि जितना आदर मेरा अब हो रहा है उसका शतांश भी तब नहीं होता था। एक बार मैं सेठ चिम्मनलाल के ठाकुर द्वारे में झूला देखने गई थी सारी रात बाहर खड़ी भीगती रही किसी ने भीतर नहीं जाने दिया लेकिन कल उसी ठाकुर द्वारे में मेरा जाना हुआ तो ऐसा जान पड़ता था मानों मेरे चरणों से वह मन्दिर पवित्र हो गया। किन्तु साथ ही-साथ वह यह भी समझ जाती है कि भोगलिप्सा ही जीवन-सर्वस्व नहीं है। अभी तक उसके सम्पर्क में कोई भी भला मनुष्य नहीं आया था पर यहाँ पहुँचकर विट्ठलदास के रूप में एक सच्चे समाज-सुधारक से उसका साक्षात्कार होता है। 'सुमन ने आज तक किसी से ऐसी बातें न सुनी थी। वह रमणियों के सुख को अपने आदर को जीवन का मुख्य उद्देश्य समझती थी। उसे आज मालूम हुआ कि सुख सन्तोष से प्राप्त होता है और आदर सेवा से। वह विट्ठलदास से कहती है "मैं सुख और आदर दोनों ही को छोड़ सकती हूँ, पर जीवन-निर्वाह का तो कुछ उपाय करना ही पड़ेगा। उसका ध्यान अब वास्तविक गार्हस्थ्य शान्ति की ओर भी जाता है। प्रेमचन्द के शब्दों में "यह एक प्रकार की चेतावनी होती है जो आत्मा की ओर से भोग विलास में लिप्त मन को मिलती है। वह वेश्या-वृत्ति को तृष्णा-सागर कहती है। "यहाँ या तो अन्धे आते हैं" वह सोचती है 'या बातों के वीर। कोई अपने धन का जाल बिछाता है, कोई अपनी चिकनी चुपड़ी बातों का। उनके हृदय भावशून्य शुष्क और ओछेपन से भरे हुए होते हैं। परिणामस्वरूप वह अपने नाचघर के द्वारों को सदा-सदा के लिए बन्द कर देती है उसी तरह जिस तरह वह पति-द्वार को सदैव के लिए छोड़ आई थी। इस प्रकार सुमन के जीवन के इस दूसरे चरण में मानव-जीवन की सार्थकता की ओर जिज्ञासा

बुरी दृष्टि विद्यमान है। वह समझने लगती है कि सुख से बड़ा सन्तोष है और आदर से श्रेष्ठ सेवा। इसके साथ ही वेश्या-रूप में ही उसे एक अन्य सत्य की उपलब्धि भी होती है। वह है प्रेम। सदन नाम का युवक उसके कोठे पर आया करता था। 'सुमन इस समय सदन के प्रेम-पाश में फँसी हुई थी। प्रेम का आनन्द उसे कभी नहीं प्राप्त हुआ था। इस दुर्लभ रत्न को पाकर उसे हाथ से नहीं जाने देना चाहती थी।" किन्तु दालमण्डी का त्याग करते हुए उसे जीवन में पहली बार आभास होता है कि प्यार केवल शरीर का विषय ही नहीं है अपितु उसका आधार तो त्याग होता है। वह सोचती है कि "कैसे अपने हाथ से एक सरल हृदय युवक का जीवन नष्ट करूँ?" साथ ही यह भी विचार उठता है "लेकिन सदन को कैसे भुलाऊँगी। और अन्ततः वह यही निश्चय करती है कि स्वार्थ पर आधारित रूपाकर्षण से युक्त प्रेम की अपेक्षा उसकी त्यागाश्रित वेदनामयी स्मृति कहीं अधिक श्रेयस्कर है। इस प्रकार हम देखते हैं कि सुमन के चरित्र का पहला चरण यदि अज्ञान तथा मिथ्या की स्थिति है तो दूसरे में उसे उसका आभास हो जाता है और उसकी दृष्टि अपने ही अनुभवों के आलोक में जीवन के शाश्वत मूल्यों पर केन्द्रित हो जाती है। प्रेमचन्द यहाँ यह मान कर चले हैं कि "जिस तरह अवसर पाकर मनुष्य की पाप-चेष्टा जागृत हो जाती है उसी प्रकार अवसर पाकर उसकी धर्म-चेष्टा भी जागृत हो जाती है।"

सुमन के जीवन-विकास का तीसरा तथा अन्तिम चरण है उसका आदर्श नारी-रूप—दालमण्डी से लेकर सेवासदन तक की यात्रा। 'अब वह विधवाश्रम में रहती है और सब उससे प्रसन्न हैं। उसकी कर्म-निष्ठा देखकर लोग चकित हो जाते हैं। इस रूप में उसके चरित्र की सबसे पहली विशेषता है उसकी धर्म निष्ठा। वह रोज गंगा-स्नान को जाती है और उसके पति गजाधर के शब्दों में वह अब एक 'विदुषी' है। कर्तव्याकर्तव्य का ज्ञान होने पर सुमन के मन में तीव्र पश्चाताप की भावना का उदय होता है। 'वह अपनी ही दृष्टि में एक पिशाचिनी मालूम होती थी।" "जिस प्रकार कोई रोगी क्लोरोफ़ार्म लेने के पश्चात् होश में आकर अपने चीरे फोड़े के गहरे घाव को देखता है और पीड़ा तथा भय से फिर मूर्छित हो जाता है वही दशा इस समय सुमन की थी। पश्चाताप के उन्माद में वह आत्महत्या तक का प्रयत्न करती है किन्तु गंगा के तट पर महात्मा गजाधर प्रसाद के साक्षात्कार से उसके जीवन में सेवा का सूत्रपात होता है। वस्तुतः सेवा भावना ही सुमन के इस मानवी रूप का मूल तत्व है। "अब तक तुम अपने लिए जीती थीं अब दूसरों के लिए जियो"—गजाधर का

यह उपदेश-वाक्य ही अब उसके लिए जीवन-सार है। उसकी बहन शान्ता विधवाश्रम में उसके पास आ जाती है। वह उसके कल्याण के हेतु आश्रम को कुछ समय के लिए त्याग देती है और सदन को उसका परिणयन करने की कर्त्तव्य-प्रेरणा देती है। शान्ता के घर में आकर भी वह उसकी सेवा में ही रत रहती है। "शान्ता नहाती है सुमन खाना पकाती है, शान्ता अपने केशों को सँवारती है सुमन कपड़े सीती है घर का सारा काम भी करती है और बाहर का भी। सेवा-सदन में अबोध बच्चों को शिक्षा देने का कार्य भार सँभाल कर तो वह अपनी सेवा-भावना को और भी व्यापक पुट देकर क्रियान्वित करती है। सेवा-भावना के साथ-ही-साथ उसके हृदय में एक ऐसे स्नेह का भी उद्बोध होता है जो उसके लिए पहले अज्ञातप्राय था। शान्ता को वह जीवन में पहली बार बहन के स्नेह की दृष्टि से देखती है और 'सेवासदन' में भी बच्चों को अपने स्नेह से वंचित नहीं रखती। स्नेह के अतिरिक्त अब उसके चरित्र में अगाध सहनशीलता का पुट भी मिल गया है। शान्ता की अपने प्रति उपेक्षा को देखती हुई भी वह उसकी गर्भावस्था में देख भाल करती रहती है और सदन के माता पिता के व्यंग्यबाणों को छिपकर सुन लेने पर भी वह जीवन से समझौता किये ही रहती है। अब उसे अपने पतितत्व का आभास भी हो जाता है और वह गजाधर से क्षमा-याचना भी कर लेती है। अब उसका विश्वास केवल सुकर्मों में ही रह जाता है। सारांश यह कि सुमन का यह रूप पूर्ण मानवी का रूप है और धर्म-निष्ठा सेवा त्याग स्नेह तथा सहनशीलता आदि इसकी प्रमुख विशेषताएँ हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि एक निपट विलासिनी (व्यभिचारिणी नहीं) से उठकर सुमन एक आदर्श सेवाव्रतधारिणी के रूप तक पहुँचती है। जीवन के प्रथम चरण में वह क्षणभंगुर वासनाओं की ओर आकृष्ट होती है, दूसरे चरण में अपनी विकृतियों के मुकुर में कलंकित प्रतिबिम्ब को निहारती है और तीसरे चरण में उसके आमूल प्रक्षालन का सक्रिय प्रयत्न करती है। किन्तु अभी उसके चरित्र की एक परख शेष है—वह यह कि आदर्शवाद की धुन में प्रेमचन्द सुमन के चित्रण में चरित्र-विकास की मनोवैज्ञानिक दृष्टि से किस प्रकार सफल हुए हैं। इस दृष्टि से सुमन का चरित्र-चित्रण निश्चय ही त्रुटिरहित नहीं है। दालमण्डी तक तो प्रेमचन्द ने सुमन के चरित्र को अत्यन्त सहज तथा विश्वस्त मनोवैज्ञानिक ढंग से उभारा है किन्तु आगे चलकर उसके अप्रत्याशित चरित्र-परिवर्तन में प्रचुर अस्वाभाविकता का समावेश कर दिया है। वह अनायास ही ईश्वर के नाम की रट लगाना आरम्भ कर देती है। बात यह है कि

प्रेमचन्द अपने सम्पूर्ण नारी-पात्रों के चित्रण में यह मान कर चले हैं कि अनुकूल सामाजिक परिवेश मिल जाने पर अथवा व्यक्ति-विशेष से सत्यानुभूति हो जाने पर संस्कारों को बदला जा सकता है और हम भी उनके साथ किसी सीमा तक सहमत हैं, किन्तु संस्कारों का उतना आकस्मिक तथा शीघ्र परिवर्तन असम्भव है जितना कि सुमन के चरित्र में हुआ है। उसके आत्म-विभ्रम में एक दीर्घ तथा तीव्र आत्म-संघर्ष दिखाकर उसे एक स्वस्थ सामाजिक मार्ग की ओर मोड़कर मृत्यु-शैय्या से ये वचन कहलाये होते "ईश्वर तुम्हें कैसे पाऊँ? मुझे इस अंधकार से निकालो" तो अधिक उपयुक्त होता। और फिर कौन कह सकता है कि सेवासदन में अधिष्ठिका का कर्तव्य निभाती हुई भी सुमन एक अकेलेपन का अनुभव न करती हो निवृत्ति-मार्ग की अभावात्मकता उसे न अखरती हो और इस प्रकार अब भी उसका चरित्र अस्वस्थ एकांगी तथा अपूर्ण ही न रह गया हो? यह तो मानना ही पड़ेगा कि इस दृष्टि से सुमन के चरित्र-चित्रण में प्रेमचन्द सफल नहीं हुए हैं। हाँ ऐतिहासिक दृष्टि से जैसा कि हम आरम्भ में ही कह चुके हैं सुमन प्रेमचन्द की नारी-भावना का महत्त्वपूर्ण विकास-चिह्न है। इसके उपरांत उन्होंने किसी अन्य सुमन की सृष्टि नहीं की।

एक बात और। प्रेमचन्द की सुमन को शरत् की किरणमयी तथा राजलक्ष्मी से तुलनीय समझा जाता है। हमारे विचार से कोई भी दो चरित्र एक समान नहीं होते। फिर एक ही लेखक के दो चरित्रों में तो समानान्तर रेखायें मिल सकती हैं किन्तु पृथक-पृथक लेखकों के दो चरित्रों में साम्य तथा वैषम्य प्रायः उनके बहिरंग तक ही सीमित रह जाया करता है। सुमन और किरणमयी में भी बहिरंग दृष्टि से ही तुलना की जा सकती है। उदाहरणतः दोनों को पति-पक्ष से प्रेम नहीं मिलता दोनों अपूर्व सौन्दर्य से आभूषित हैं और दोनों ही पति के अतिरिक्त एक अन्य पुरुष की ओर विशिष्ट रूप से आकर्षित होती हैं—आदि-आदि। वैषम्य की दृष्टि से किरणमयी में जो बुद्धि की प्रखरता है सुमन में उसका अभाव है किरणमयी जिस धर्म में अगाध नहीं है जिस धर्म में सुमन, एक आत्मा को नहीं मानती तो दूसरी आत्मा को आवाज लगाती रहती है एक मुक्त-प्रेम का समर्थन करती हुई भी व्यभिचारिणी नहीं है तो दूसरी व्यभिचार के कूप में डूबकर भी मुक्त प्रेम से अभाव ही रहती है एक में धार्मिक ग्रन्थों के प्रति विद्रोह है तो दूसरी रामायण तथा विनय-पत्रिका को ही जीवनाधार मानती है और एक में प्रतिशोध की भावना पर लिये हुए है तो दूसरी में ऐसी कोई दमित नहीं है—आदि-आदि। वस्तुतः प्रेमचन्द और

शरत् की नारी-भावनाओं में कहीं-कहीं मामूल अंतर विद्यमान है। शरत् जहाँ नारी को स्वभावतः पुरुष की अपेक्षा अबला ही मानते हैं प्रेमचन्द वहाँ ऐसी कोई स्वीकृति नहीं देते शरत् नारी के अधिकारों की स्पष्ट माँग करते हैं किन्तु प्रेमचन्द ऐसी कोई प्रत्यक्ष आवाज नहीं लगाते और शरत् यदि कहते हैं कि 'नारी का मूल्य निर्भर करता है पुरुष के स्नेह सहानुभूति और न्याय-धर्म पर' तो प्रेमचन्द नारी को पुरुष से कहीं अधिक महती मानते हुए त्याग सेवा तथा उत्सर्ग आदि उसी की आन्तरिक विशेषताओं के आधार पर उसका मूल्यांकन करते हैं। वेश्या-समस्या से भी यद्यपि तो दोनों ही अत्यन्त सहानुभूति पूर्वक करते हैं किन्तु शरत् जहाँ प्राचीन के प्रति विद्रोह तथा भौतिक सुखवाद को भी महत्त्व देते हुए चलते हैं वहाँ प्रेमचन्द मुक्त-प्रेम आदि को अवांछनीय समझ कर उसकी अभिव्यक्ति से भी सम्भव सीमा तक बचकर निकल जाते हैं। शरत् की राजलक्ष्मी वेश्या होते हुए भी अपनी पति-भक्ति, अपने वात्सल्य अपनी सहनशीलता एवं अपनी समर्पण-भावना अथवा अपने उत्सर्ग के कारण उन्हें अत्यधिक प्रिय हो सकती है किन्तु प्रेमचन्द वेश्या को नारी का असत् रूप मानकर चलते हैं और उसकी विवशताओं से सहानुभूति रखते हुए भी यह कभी विश्वास नहीं करते कि असत् रूप में ही उसे सत्य की उपलब्धि सम्भव है। वह पहला काम यही करेंगे कि उसे असत् से सत् में खींच लायेंगे और वहीं से उसे शाश्वत मानवीय वृत्तियों की ओर आकृष्ट करेंगे। यही कारण है कि 'श्रीकान्त' की अभया तथा 'शेष प्रश्न' की कमल को अथवा 'चरित्रहीन' की किरणमयी तथा 'श्रीकान्त' की राजलक्ष्मी को जहाँ शरत् उनके समाज द्वारा अस्वीकृत रूप-माध्यम से ही संवेदनाओं का प्रसार प्रदान करते हैं वहाँ प्रेमचन्द सुमन को लाकर सेवासदन में स्थापित करते हैं।

विद्यावती

'प्रतिज्ञा' की सुमित्रा की अपेक्षा 'प्रेमाश्रम' की विद्यावती अधिक भारतीय है। पत्नी-रूप में दोनों की समस्यायें प्रायः एक समान हैं। दोनों ही वञ्चिताएँ हैं किन्तु चरित्र-विकास नैतिक गरिमा तथा प्रभावोत्पादन की दृष्टि से सुमित्रा विद्यावती से बहुत पीछे रह जाती है। आत्म-सम्मान की भावना के साथ-साथ जो अनावश्यक तथा अस्वाभाविक हठीलापन सुमित्रा के चरित्र में विद्यमान है विद्यावती में उसका आमूल परिष्कार हुआ है। सुमित्रा ही की अपेक्षा गहरी अधिक व्यापक अधिक सन्तुलित अधिक भारतीय तथा अधिक

तीव्र अभिव्यक्ति है विद्यावती।

विद्यावती के चरित्र के दो पक्ष हैं—एक वैयक्तिक दूसरा पारिवारिक अथवा व्यावहारिक। प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में ये दोनों पक्ष होते हैं—पहला आन्तरिक पक्ष होता है दूसरा बहिरंग। किन्तु निजी कमजोरियों अथवा परिस्थितियों की अवहेलना न कर सकने के कारण विरले व्यक्तित्वों में ही इनका सन्तुलन उपलब्ध हुआ करता है। पति के साथ यदि विद्यावती की वृत्तियों का समंजन हो गया होता तो उसके चरित्र के इन दोनों पक्षों में कोई भी गहरी विभाजन-रेखा नहीं खींची जा सकती थी किन्तु यहाँ तो बात ही बेमेल स्वभावों की है और यह निश्चित है कि बेमेल से मेल करने की अनिवार्यता के हेतु व्यक्ति को अपने प्रति एक प्रकार की शिथिलता अथवा विराग-भावना सी लानी पड़ती है—स्वत्व से थोड़ा दूर होना पड़ता है। सावधानता इस बात की होती है कि इस समझौते में वह सत्य से कहीं दूर न जा पड़े।

वैयक्तिक पक्ष में विद्यावती के चरित्र में स्वभाव से ही गर्व, स्नेह, ममता सन्तोष तथा त्याग—इन पाँच वृत्तियों का प्राधान्य है। इनमें भी सर्वप्रमुख है गर्वशीलता जो साधारणतः आदर्श-नारियों में शेष बातों के साथ सर्वत्र साम्य नहीं रखती किन्तु विद्यावती के चरित्र की यह निजी तथा वांछनीय विशेषता है। प्रारम्भ से अन्त तक उसमें गर्वशीलता बनी रहती है। उसका पति ज्ञानशंकर अभावी होते हुए भी लोभी है और जिधर भी सम्पत्ति की झलक पाता है उधर ही लपकने का प्रयत्न करता है, किन्तु विद्यावती इसे आत्म-सम्मान के लिए घातक समझती है। वह उससे स्पष्टतः कह देती है "पुरुषार्थी लोग दूसरों की सम्पत्ति पर मुँह नहीं फैलाते अपने बाहुबल का भरोसा रखते हैं।" गायत्री देवी उसकी विधवा बहन है और एक रियासत की स्वामिनी है। रियासत के प्रबन्ध के लिये वह उसके पति को मैनेजरी का निमन्त्रण देती है किन्तु गर्वशीला विद्यावती कहती है 'अभी वह तुम्हारी बड़ी साली है तुम से कितना प्रेम करती है कितनी ही बार तुम्हारी चारपाई तक बिछा दी है। इस उच्चासन से गिरकर अब तुम उनके नौकर हो जाओगे और मुझे भी बहन के पद से गिराकर नौकरानी बना दोगे।" ज्ञानशंकर सुनी-अनसुनी कर देता है। अन्ततः विद्यावती को गर्वशीला प्रकृति के कारण ही आत्मघात करना पड़ता है। गायत्री को वह अपने पति के भुजपाश में देखकर सोचती है कि "उसके शाप में यदि इतनी शक्ति होती कि वह इन्हें जलाकर भस्म कर देता तो वह अवश्य शाप दे देती।" वह अपने आपको गर्व-वंचिता समझती है और जिस पर उसके पुत्र मायाशंकर को भी अब दत्तक पुत्र बनाकर छीन लिया

जाता है तो यह वात्सल्य-वंचिता उद्वेग की उस अवस्था तक पहुँच जाती है जहाँ उसकी सहनशीलता भी जवाब दे जाती है। उसे विष खाकर प्राण देने पड़ते हैं। विद्यावती आजीवन एक स्नेहमयी नारी रही है। स्नेह-बन्धनों के कारण ही वह संयुक्त परिवार को श्रेयस्कर समझती है। स्नेहमयी बहन होने के कारण ही वह अपने एकमात्र भाई की मृत्यु पर मूर्च्छित होकर गिर पड़ती है। इसीलिए वह शीलमणि को सहानुभूति देती है और यही कारण है कि भावजी के आत्म-हनन के उपरान्त भी वह उसे सहलाती है। इसके अतिरिक्त भौतिक उपलब्धियों के लिए वह अपनी सन्तोष-भावना को भी डगमगाने नहीं देती। धन की ओर तो वह एकदम निःस्पृह है। सिनेमा आदि जीवन की रंगीनियाँ उसे नापसन्द हैं तथा बड़ों से परिचय प्राप्त करने की चाह भी उसे नहीं है। हाँ त्याग में उसका विश्वास है। स्वयं प्रेमचन्द के शब्दों में 'उसे परमार्थ पर स्वार्थ से अधिक श्रद्धा है'। संक्षेपतः यही है विद्यावती के व्यक्तित्व का निजी पक्ष।

व्यावहारिक अथवा पारिवारिक दृष्टि से विद्यावती बहुत प्रभावी है। इस क्षेत्र में अपने से बाहर उसका निकटतम सम्पर्क है अपने पति ज्ञानशंकर से। पति महोदय ऐसे कि उन्हें पत्नी की समस्त अन्तर्वृत्तियों से कड़ा विरोध है। वह अर्थलोलुप हैं तो यह बिना आत्म-सम्मान के भी झुक जाते हैं, यह स्नेहमयी है तो वह स्वार्थ-स्नेह हैं यह त्याग करना जानती है तो उन्हें लिप्साओं का रस चूसकर आग को शरण लेनी है यह एकनिष्ठ है तो उन्हें यह बन्धन अपने लिये मान्य नहीं है और यह सन्तोष का दामन पकड़ कर चलती है तो वह समझते हैं धैर्य और सन्तोष बुद्धिहीनता का प्रमाण है।" संक्षेपतः विद्यावती के पास उर्वर हृदय है तो उसके पति के पास शुष्क तथा संतप्त बुद्धि है। हृदय का कर्तव्य तो देना होता है। इसलिये विद्यावती अपनी सम्पूर्ण दाम्पत्य भावना में कर्तव्य से नहीं चूकती यद्यपि उसे सुखमय बनाना उसकी सामर्थ्य से बाहर है। ज्ञानशंकर 'स्त्री का आदर उससे अधिक नहीं करते जितना अपने पैर के जूतों का' तो भी विद्यावती उनकी राह देख रही होती है और पूछ रही होती है "आप देर क्यों कर रहे हो? भोजन तो कभी से तैयार है।" संकोचशीला होते हुए भी वह पति के कहने पर डिप्टी ज्वालासिंह की पत्नी से मिलने जाती है। वह जानती है कि उसके पति में मनोविकृतियों का अभाव नहीं है, फिर भी जब उसके अपने पिता भी उस ओर संकेत करते हैं तो वह बोल उठती है 'आप मेरे सामने उनकी बुराई न कीजिये मैंने सदैव आपका आदर किया है और आपकी अवज्ञा करते हुए मुझे

जितना दुःख हो रहा है वह वर्णन नहीं कर सकती वह आपके कथनानुसार कुचरित्र सही दुरात्मा सही कुमार्गी सही परन्तु मेरे लिए पूज्य और देवतुल्य हैं। और मन में वह सोचती है "अब तक उनकी कुवृत्तियों का पर्दा ढका हुआ था। जो कुछ दुःख और सन्ताप होता था वह उसी तक रहता था पर यहाँ आकर पर्दा खुल गया।" पति से इस प्रकार का असामंजस्य होते हुए भी वह सोचती है कि बनारस पहुँचकर उन्हें सुधारने का प्रयत्न करेगी। पर वह ऐसा कर नहीं पाती क्योंकि बनारस पहुँचकर वह देखती है कि वह पूर्णपतिता हो चुकी है। किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि उसके पत्नी-रूप में पति-सेवा मर्यादा-पालन तथा पति से छायावरोध करके आदर्श-दाम्पत्य की चाह विद्यमान है। पति के अतिरिक्त पारिवारिक जीवन में उसका दूसरा निकटतम सम्बन्ध है अपने पुत्र मायाशंकर से। मातृ-रूप में भी वह कर्तव्यपरायणा है। वह जननी मात्र नहीं है अपितु एक प्रशिक्षिका जननी की भाँति सोचती है "मेरा लड़का गरीब रहेगा अपने पसीने की कमाई खायेगा लेकिन जब तक मेरा बस चलेगा मैं उसे इस सम्पत्ति की हवा तक न लगने दूँगी।" इस प्रकार एक सफल मातृ-भावना भी विद्या के चरित्र में विद्यमान है। पुत्र तथा पति के उपरान्त विद्यावती का एक कुलवधू रूप भी है जिसका सम्बन्ध परिवार के अन्य सदस्यों से है। इस रूप में वह संयुक्त परिवार प्रथा का ही समर्थन करती है। गुरुजनों के प्रति उचित श्रद्धा भी वह रखती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि पारिवारिक क्षेत्र में भी विद्यावती एक कुलवधू के आदर्श को लेकर चलती है। कर्तव्य तथा मर्यादा-पालन इस क्षेत्र में उसके चरित्र की दो प्रमुख विशेषताएँ हैं।

किन्तु सब कुछ होते हुए भी विद्यावती अपने चरित्र के उक्त दोनों पक्षों में सुमधुर सामंजस्य स्थापित नहीं कर पाती। उसे विष खाकर आत्महत्या करनी पड़ती है। परिस्थितियों का पानी जब सिर से बढ़ जाता है तो विद्यावती जैसी गर्वशीला को आत्मा के सत्य की परिपालना के लिए उसमें डूबना ही पड़ता है। पति कुमार्गी था पुत्र भी उससे छीन लिया गया था। उसके सामने समस्या थी कि वह जिये तो किसके लिए? और यह अन्तर्द्वन्द्व निराशा की चरम सीमा पर पहुँचा करता है। ऐसी मानसिक स्थिति में किया गया आत्मघात भी अस्वाभाविक नहीं होता। इस दृष्टि से विद्यावती का अन्त ज्ञानशंकर तथा गायत्री दोनों की अपेक्षा अधिक स्वाभाविक है।

जहाँ तक विद्यावती के चरित्र में लेखक के दृष्टि-बिन्दु का प्रश्न है वह निश्चय ही आदर्शवादी है। प्रश्न उठता है कि जिस विद्यावती में आजीवन सात्विक वृत्तियों का प्राधान्य रहा है उसकी आत्महत्या द्वारा लेखक ने क्षीण

सी उपयोगिता के आदर्श का गुण सिखाया है ? इसका उत्तर यही है कि मृत्यु के बन्धन को तोड़कर ही अन्ततः विद्या के चरित्र में सत्य की विजय होती है । मृत्यु को भी वैसे वह सत्य नहीं अपितु परिस्थिति मात्र समझती है । जीते जी वह जो न कर सकी उसकी पूर्ति मृत्यु के उपरान्त स्वयमेव ही हो गई । उसका पुत्र मायाशंकर जीवन में अपनी माँ के आदर्शों को लेकर ही उतरता है और उसके पति ज्ञानशंकर को भी उसी के आदर्शों की सार्थकता से पराजित होकर गंगा की शरण लेनी पड़ती है । अतः उद्देश्य की दृष्टि से विद्यावती की चरित्र-गरिमा युग-विशेष की नहीं अपितु युग-युग की आदर्श-नारी की सफल अभिव्यक्ति है ।

श्रद्धा

प्रेमचन्द की पत्नीत्व-कल्पना का एक उदात्त रूप हमें 'प्रेमाश्रम' की श्रद्धा में उपलब्ध होता है । कहा जाता है कि एक श्रेष्ठ कलाकार के पात्र भी अपने स्रष्टा के प्रति विद्रोही हो जाया करते हैं परिस्थितियों द्वारा उनकी निर्मिति के समक्ष लेखक विवश हो जाता है । परन्तु श्रद्धा के विषय में यह उक्ति बहुत चरितार्थ नहीं होती । प्रेमचन्द ने जो आदर्श उसके सामने प्रस्तुत किया है वही उसकी श्रद्धा ने करणीय समझा है । कहने का तात्पर्य यह है कि श्रद्धा प्रेमचन्द की नारी-भावना का सबल प्रतीक है ।

श्रद्धा के चरित्र की सर्वप्रमुख विशेषता यह है कि उसने धर्म को प्रेम से कम महत्त्व नहीं दिया है । पास-पड़ोस का विचार है कि उसके पति प्रेमशंकर सागर-पार अमेरिका हो आने के कारण हिन्दुत्व से भ्रष्ट हो चुके हैं । इसलिये मन में पति-प्रेम का अगाध विश्वास रखती हुई भी वह लोक-मर्यादा का उल्लंघन नहीं करना चाहती । 'एक बार वह अधीर होकर चली कि प्रेमशंकर का हाथ पकड़ कर फेर लाऊँ द्वार तक आई, पर आगे न बढ़ सकी । धर्म ने ललकार कर कहा—प्रेम नश्वर है निस्सार है, कौन किसका पति और कौन किसकी पत्नी ? यह सब माया-जाल है" । वह पति को भी एक पत्र में लिखती है "मुझे आपसे मिलते हुए अनिष्ट की आशंका होती है । धर्म को तोड़कर कौन प्राणी सुखी रह सकता है ? आपके विचार तो ऐसे नहीं फिर आप क्यों मेरी सुधि नहीं लेते ?"

श्रद्धा का पति-प्रेम दैहिक स्तर से बहुत ऊपर उठा हुआ है । लोक-मर्यादा का पालन तो उसका एक अनिवार्य अंग है ही उसके प्रेम में अटल विश्वास के साथ-साथ पति के प्रति भक्ति-भावना का समावेश भी है । प्रेमचन्द के शब्दों में

"श्रद्धा के लिए प्रेमशंकर केवल एक कल्पना थे इसी कल्पना पर वह प्राणार्पण करती थी।" ग्रामवासियों की सेवा के अपराध में उसके पति को जेल भेज दिया जाता है। उसका देवर इस विषय में कुछ कहता है तो मुँहतोड़ उत्तर देती है। "तुम्हें जमींदार की खुशामद करने की कोई जरूरत नहीं। वह अपनी रक्षा आप कर सकते हैं।" इस प्रकार का विश्वास साधारण नहीं हुआ करता। वह दैहिक रूप से पति से दूर रहती है; किन्तु उसका विश्वास और प्रेम पति के आत्मविकास में निरन्तर स्फूर्ति एवं प्रेरणा प्रदान करते रहते हैं। पति द्वारा लिये गए लोक-सेवा के व्रत को वह अत्यन्त उदात्त कर्म समझकर अपने आभूषणों आदि से उसकी सहायता भी करती है। साधारण स्त्रियों की भाँति उसमें आभूषण-प्रियता नहीं है। त्याग और सेवा ही उसके वास्तविक आभूषण हैं। प्रेमशंकर पहले तो उसकी लोक-मर्यादा को निष्ठुरता से कम नहीं समझते थे किन्तु इस सहायता को पाकर उनके सम्मुख "श्रद्धा एक देवी के रूप में खड़ी मालूम होती थी। उसकी मुखश्री एक दिव्यज्ञान ज्योति से प्रदीप्त थी। त्याग और अनुराग की विशाल मूर्ति थी जिसके कोमल नेत्रों में भक्ति और प्रेम की किरणें प्रस्फुटित हो रही थीं।" इस दृष्टि से श्रद्धा एक सफल पतिव्रता है। उसकी अपनी अनुभूति है कि 'प्रेम केवल हृदयों को मिलाता है देह पर उसका वश नहीं है।

श्रद्धा का विश्वास है कि असत् को भी तपा कर प्रायश्चित्त द्वारा सत् में परिणत किया जा सकता है। अतः वह प्रायश्चित्त को जीवन में आवश्यक समझती है। वह प्रेमशंकर से प्रायश्चित्त करने के लिए कहती है और जब वह कहते हैं कि 'प्रायश्चित्त की शर्त लगाकर तुम मुझ पर बड़ा अन्याय कर रही हो' तो वह कहती है 'आपके चित्त से अभी अहंकार नहीं मिटा। जब तक इसे न मिटाइयेगा ऋषियों की बातें आपकी समझ में न आवेंगी।" इस प्रकार वह अहंकार को विकास-मार्ग का अवरोध समझती है। इसका यह तात्पर्य नहीं कि उसके चरित्र में आत्मसम्मान की भावना नहीं है। वह हर रात स्वयं संध्या तक पति के मंदिर की अर्चना करने जाती है तो कमर में छुरा भी लिये जाती है और कहती है 'मेरी रक्षा के लिए यह काफी है'। उसका तो निश्चय है कि "हया स्त्री की जान है इसके बिना वह सूखी लकड़ी है जिसे आग की एक चिनगारी जलाकर राख कर देती है।" वह सतीत्व-रक्षा का ही नारी के लिए सबसे बड़ा आत्मसम्मान समझती है और यह सोचकर चलती है कि यदि नारी का हृदय पवित्र है उसमें सत्य की शक्ति विद्यमान है तो "पुरुष हजार रसिया हो हजार चतुर हो हजार पातिया हो हजार डोरे डाले किन्तु

सती स्त्रियों पर उसका एक मन्त्र भी नहीं चल सकता। वह आँख ही क्या जो एक निगाह में पुरुष की चाल-ढाल को ताड़ न ले। जवानी आग का पुतला है पर हरी लकड़ी को भी किसी ने जलती देखा है? इस प्रकार श्रद्धा नारी को अबला नहीं मानती।

श्रद्धा धन को अपनी ही पति-सेवा का माध्यम मात्र नहीं समझती। वह यह मान कर चलती है कि भगवान् होने का अर्थ है उसी मात्रा में अधिक परोपकारी होना। वह ज्ञानशंकर से कहती है 'तुम्हें भगवान् ने धन दिया है। उससे अच्छे काम करो। अनाथों और विधवाओं को पालो, धर्मशालाएँ बनवाओ, तालाब और कुएँ खुदवाओ, भक्ति (सीता आदि के आदर्शों से मुक्त विचारधारा) को छोड़कर ज्ञान (विश्वास) पर चलो। इस प्रकार, उसके चरित्र में सेवा भाव स्वभाव से ही विद्यमान है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि श्रद्धा के पत्नीत्व में आकाश-वितान-सा व्यापकत्व है। प्रेम, धार्मिकता, त्याग-सेवा तथा तप आदि लोकमांगलिक वृत्तियों का अपूर्व समन्वय उसमें विद्यमान है। चौदह वर्ष के बीच व्यवधान में वह आँसुओं पर आधारित विरह में नहीं तपी है अपितु उसके चरित्र में प्रेमचन्द ने सीता के से मर्यादा-पालन की उदात्त कल्पना का समावेश किया है। दुःख केवल इस बात का है कि श्रद्धा के चित्रण में प्रेमचन्द को स्थानाभाव बहुत रहा है जिसके कारण वह उपन्यास का गौण पात्र बनकर रह गई है। विलासी के साथ भी यही अन्याय हुआ है और आगे चलकर कुसुम को भी यह प्रहार सहन करना पड़ा है। वस्तुतः प्रेमचन्द अपनी प्रत्येक कृति में एक बहुत बड़े व्यापकत्व को लेकर चलते हैं। व्यापकत्व की मांग होती है समग्र वर्ग अथवा जीवन-खण्ड का चित्रण। अतः उन्हें एक ही उपन्यास में बहुत-से पात्रों को उतारना पड़ता है। अकेले 'प्रेमाश्रम' में ही सात-आठ नारी-पात्रों की गणना की जा सकती है। इस दृष्टि से श्रद्धा को भी सम्भवतः यथायोग्य की तो नहीं अपने भाग की उपलब्धि हो ही गई है। उसका श्रद्धा नाम सार्थक हो गया है।

विलासी

'प्रेमाश्रम' की विलासी एक निम्नवर्गीय कृषक-पत्नी है। इस नाते उसके चरित्र में उन सभी विशेषताओं—अच्छाइयों बुराइयों—का समावेश है जो ग्राम्य जीवन का प्रतिनिधित्व करती हैं। अपने आप में अपूर्ण होते हुए भी उसके चरित्र का महत्त्व इस दृष्टिकोण से अधिक है कि वह प्रेमचन्द की एतद्

विषयक सर्वप्रथम अभिव्यक्ति है जो समय पाकर धनिया के रूप में अमर हो गई है।

बिलासी अपने पति मनोहर की सम्पूर्ति है। तलवों से दबे हुए मनोहर के जीवन में उसे पाकर एक सजीव-सी सहनशीलता व्याप्त है। वह मनोहर के अन्तर्दाह से भली भाँति परिचित है। पेट भरकर खाना नहीं खाता तो पूछती है 'क्या साग अच्छा नहीं ? गुड़ दूँ ?' उत्तर में जब जिज्ञासा को शान्ति नहीं मिलती तो चिन्तित सी पुनः पूछती है 'किसी से कुछ कहा-सुनी तो नहीं हुई है ?" और जब असली कारण का पता चल जाता है तो जीवन-साथी के दर्द का बाँट लेने के हेतु उससे बढ़कर सक्रिय प्रयत्न करती है। गृहस्थी के कार्यों में भी वह बहुत व्यवहार-कुशला है। सन्तोष उस प्रौढ़ा के कामों का धर्म बन चुका है। इसलिए वह जीवन में तनिक झुककर चलने में भी हेठी नहीं समझती है। पति से कहती है 'तुम्हारी आदत है कि जब देखो एक न एक बखेड़ा मचाये ही रहते हो। जब सारा गाँव भी दे रहा है तब हम क्या गाँव से बाहर हैं ? जैसे सब चढ़ेगा वैसे। इसमें कोई अपनी हेठी थोड़ी ही हुई जाती है ?' और बेचारी गरीब गृहस्थिन आस्तिक हुए बिना कैसे सन्तोष रख सकती है। अतः आगे कहती है 'हेठा तो नारायण ने ही बना दिया है। तो क्या अकड़ने से ऊँचे हो जायेंगे ? थोड़ा सा घी हाँडी में है दो-चार दिन में और बटोर लूँगी साकर तौल आना।' वह जानती है कि उसके पति तथा जवान बेटे की अकड़ आत्म-सम्मान के अतिरिक्त कुछ नहीं है तो भी वह स्वयं प्रायश्चित्त करने के लिये चौपाल पहुँचती है और कारिन्दे गौस खाँ से कर बद्ध प्रार्थना करती है 'सरकार कहीं की न रहूँगी। जो डाँड़ चाहे लगा दीजिए, जो सजा चाहे दीजिये मालिकों के कान में यह बात न डालिये।' किन्तु इतना होते हुए भी वह नम्रता की सीमा का अतिक्रमण नहीं करती है। वह स्वयं आत्म-सम्मान को अपनी थाती समझ कर चलती है। उसे अपने बेटे और पति पर गर्व है कि वे उसकी सम्मान रक्षा कर सकते हैं। इसलिए जब गौस खाँ उसके अवधियों को घेर कर ले जाना चाहता है तो वह कहती है 'तुम तो खाँ साहिब ऐसी धुड़की जमा रहे हो जैसे मैं तुम्हारा दिया खाती हूँ।" जिस पर भी जब गौस खाँ सुनी-अनसुनी करके उसका अनादर करता है तो उसका आत्म-सम्मान भभक उठता है। वह आवेश में आकर, यह जानती हुई भी कि इसका परिणाम भयंकर होगा अपने पति तथा बेटे से शिकायत कर ही डालती है। प्रेमचन्द के शब्दों में वह "उन पुरुषों से अपनी अपमान-कथा कहने चली जो उसके मान और मर्यादा के रक्षक थे। परिणामस्वरूप गौस खाँ का वध

होता है और मनोहर को कारावास में आत्महत्या करनी पड़ती है। बिलासी विधवा हो जाती है। स्वभाव से भीरु होती हुई भी वह अपमान नहीं सह सकी थी।

विधवा-रूप में बिलासी और भी सहनशील हो जाती है। मनोहर के जेल जाते ही घर के सभी जानवर कुर्क हो जाते हैं और जिसे देखिये वही बिलासी को खरी-खोटी सुनाता है। परन्तु बिलासी तनिक भी घबराती नहीं है। वह तो यही कहती है "यही दादा तुम्हारी दया से कोई तकलीफ़ नहीं है। इतना ही नहीं 'बिलासी की बातचीत चालढाल से अब आत्म-गौरव टपका पड़ता था।'" कभी-कभी वह बढ़ बढ़कर बातें करने लगती। पड़ोसियों से कहती— तुम अपनी लाज बेचकर अपनी चमड़ी को बचाओ यहाँ इज्जत के पीछे जान तक दे देते हैं। मैं विधवा हो गई तो क्या घर सत्यानाश हुआ तो क्या किसी के सामने आँख तो नीची नहीं हुई। अपनी लाज तो रक्खी। इसी प्रकार विधवा बिलासी के चरित्र की दो प्रमुख विशेषताएँ हैं—सहनशीलता और आत्म गौरव।

बिलासी के चरित्र में त्रुटियों की भी कमी नहीं है। उसमें सहनशीलता के तत्त्व तो हैं किन्तु उनका आधार समुद्र की गहराई में नहीं अपितु सरिता के प्रवाह में है। दूसरे शब्दों में उसकी मनोभिव्यक्त वृत्तियों को ईर्ष्या आदि के मार्ग से बहाव मिल जाता है। वह स्वयं कभी नहीं सोचती कि सहनशीलता आत्मा का एक गुण है। मनोहर की मृत्यु के उपरान्त भी उसे पति-गौरव से अधिक गौरव होता है अपने ऊपर। और बहू के प्रति उसकी निष्कारण ईर्ष्या जितनी अधिक होती जाती है उसी मात्रा में ही वह स्वयं को ऊँची उठी हुई समझती है। उसका आत्म-गौरव भी जैसे एक आवेश मात्र है, उसी प्रकार जैसे उसके पति की आत्महत्या उसके आवेश का परिणाम है। किन्तु इतना अवश्य है कि इन सब पर उसका अपना वश कोई नहीं है। प्रेमचन्द भी यहाँ यह दिखाना चाहते हैं कि अन्तर्वीक्षा के संघर्ष में पिसी हुई एक कृषक-नारी बहुत गहरे सोचने की क्षमता रख ही नहीं सकती उसके गुण और दोष—सभी उसकी आवश्यकताओं के अतिरिक्त कुछ नहीं हैं।

इस प्रकार बिलासी का चरित्र पति प्रेरणा सुगृहिणी आत्माभिमानिनी सहनशीला आदि की विशेषताओं का स्वाभाविक सम्मेलन है। ध्यान देने योग्य इतनी ही बात है कि उसने इन विशेषताओं को ग्राम-संस्कारों से ही ग्रहण किया है अध्ययन चिन्तन अथवा मनन द्वारा अर्जन नहीं।

यहाँ तक चरित्र-चित्रण की कला का प्रश्न है बिलासी के चरित्र में यह

भी उसी की भाँति निर्मम है। न उसमें विस्तार है, न प्रतिपादन का चमत्कार और न ही पूर्ण विकास। विधवा विलासी का क्या हुआ होगा, बलराज के जेल से छूटकर आने पर उसके मातृ-हृदय का विकास कैसा हुआ होगा, पति की स्मृति को वह कहाँ तक सँभाल पाई होगी—ये सब प्रश्न-चिह्न हैं जो पाठक की कल्पना पर अपूर्णाभिव्यक्ति के परिणामस्वरूप अड़े ही रहते हैं।

कुसुम

भले ही 'रंगभूमि' में ताहिरअली का प्रसंग कथा की दृष्टि से अनावश्यक हो किन्तु कुसुम जैसे अमर पात्र की सृष्टि उसके बिना शायद असम्भव थी। कुसुम प्रेमचन्द की नारी भावना का महत्त्वपूर्ण सोपान है। इस उपन्यास के अमित विस्तार में जितना सहज साधारणीकरण कुसुम के साथ होता है उतना शीघ्र तादात्म्य सम्भवतः सूरदास से भी नहीं होता होगा।

कुसुम मध्यवर्गीय मुस्लिम परिवार की एक आदर्श परिणीता है। वैसे तो पर्दा-प्रथा मुस्लिम नारी के लिए प्रायः अनिवार्य ही है किन्तु पत्नी रूप में भी कुसुम के लिए वह नारी-सुलभ लज्जा का रूप धारण कर चुकी है। पति ताहिरअली को एक केस में चोट आ जाती है किन्तु कुसुम में वह नहीं जा पाती। "हृदय में हूक उठ रही थी पर पति के मुख की ओर ताकते ही उसे मूर्छा-सी आने लगती थी दूर खड़ी थी यह विचार भी मन में उठ रहा था कि ये सब आदमी अपने दिल में क्या कहते होंगे। इसे पति के प्रति जरा भी प्रेम नहीं।" वह रोती रहती है और जब एक-एक करके सब आदमी चले जाते हैं तब चित्त को सावधान करके पति के पास आ बैठती है। दिल में दर्द रख कर भी लोक-मर्यादा का पालन करना ही वस्तुतः भारतीय नारी को कुलवती का आदर देता है। किन्तु कुसुम के सलज्ज होने का यह तात्पर्य नहीं कि वह अपूर्ण पतिपरायणा है। वह पूर्ण पतिव्रता है। पति ही उसके लिए सर्वस्व है। "तुम सलामत रहोगे तो हमारी फिर आराम से गुजरेगी और पहले से ज्यादा अच्छी तरह" वह पति से यही कहकर संकटों में बने रहने की प्रेरणा देती रहती है। वह परोपकार एवं कर्तव्यपूर्ति में विश्वास रखती है किन्तु सब से बड़ा कर्तव्य वह पति के प्रति ही समझती है। पति बीमार है और देवर की फ़ीस भी चुकानी होती है तो वह कहती है "डाक्टर की फ़ीस उनकी फ़ीस से जरूरी है। वह पढ़कर रुपये कमायेंगे तो मेरा घर न भरेगा। मुझे तो तुम्हारी ही जान का भरोसा है।" यहीं पर उसका स्वार्थ भी गुण-सा बन जाता है क्योंकि वह उसकी पति-सेवा का अंग बनकर ही आता है। विवशतावश पति द्वारा

रुपये चुराने के अपराध को वह गर्हित समझती है और उसे क्रोध भी आता है किन्तु ऐसे "जैसे किसी को अपने बच्चे को चाकू से उँगली काटते देखकर गुस्सा आये। ज्यों ही ताहिरअली को बंदी बनाकर ले जाया जा रहा होता है त्यों ही वह पछाड़ खाकर गिर पड़ती है। वस्तुतः कुलसुम का पति के प्रति प्रेम आन्तरिक है बाह्याडम्बर नहीं और जितना ही वह आन्तरिक है उतना ही गहरा एवं मर्मस्पर्शी है। साथ ही कुलसुम त्यागमयी सुगृहिणी भी है। पति के जेल चले जाने पर वह अपने परिश्रम के बल पर ही गृहस्थी का संचालन करती है। वह सिलाई करती है और बच्चों का पेट पालती है। उसे अपने परिश्रम पर विश्वास है और यही कारण है कि वह आत्म-सम्मान तथा शुभविचारों को जीवन में महत्त्वपूर्ण स्थान देती है। उसे ज्ञात है कि लोभ से बढ़कर अन्य कोई कारण आत्मा के पतन में सहायक नहीं हो सकता। ताहिर अली रोकड़ से पैसे ले लेने की बात करता है तो वह कहती है 'खुदा के लिए कहीं यह गजब न करना। रोकड़ को काला साँप समझो। यही कारण है कि वह चौधरी द्वारा सहायतार्थ लाये गए धन को ग्रहण नहीं करती है और यही कारण है कि वह बच्चे का तौक बेच सकती है किन्तु चोरी जैसे कुकर्म को जघन्य समझती है। उसका विश्वास है कि धन से बड़ाई नहीं होती धर्म से होती है। चौधरी के रुपयों को लौटा कर उसका मस्तक गर्व से उन्नत हो जाता है। पति की नेकनामी को सराहती हुई वह सोचती है यह इज्जत है कि पीठ-पीछे दुनिया बड़ाई करती रहे। उस बेइज्जती से तो मर जाना ही अच्छा है कि छोटे-बड़े आदमी मुँह पर लताड़ सुनायें। इस प्रकार हम देखते हैं कि पत्नी-रूप में कुलसुम भावमयी कर्त्तव्यपरायणा पतिव्रता सुगृहिणी परिश्रम जीवी तथा आत्म-सम्मान की रक्षा करने वाली है। ऐसे चरित्र के लिए संतोष तथा सहनशीलता की परम आवश्यकता होती है। ये दोनों गुण भी कुलसुम के चरित्र में समाविष्ट हैं। उसके सन्तोष का प्रधान कारण उसकी आस्तिकता है। उसका अटूट विश्वास है कि खुदा ने जैसे इतने दिन रोजी दी वैसे ही फिर देगा न इतना मिलेगा न सही इसका आधा तो मिलेगा' दोनों वक्त न खायेंगे एक ही वक्त सही।" इसी सन्तोष-वृत्ति के कारण ही तो वह कर्म करने में ही मानव-जीवन की सार्थकता समझती है। फल की दुराकांक्षा को वह पतन का मार्ग समझती है। ताहिरअली ने यदि अपने अनुजों का भरण पोषण किया तो वह उसे उसका कर्त्तव्य-कर्म समझती है। वह उससे कहती है "इन्सान किसी गैर के साथ भी नेकी करता है तो दरिया में डाल देता है यह नहीं कि कर्ज वसूल करता फिरे। तुमने जो कुछ किया खुदा की राह में

लिया अपना फर्ज समझ कर लिया। फर्ज नहीं लिया था कि सूद के साथ वापस ले ला। इसीलिये तो वह प्रतिकार में विश्वास नहीं रखती। उसकी दोनों सासें मूरख हैं सती के पति की कमाई का पैसा भी उनके पास है किन्तु बीमार ताहिर के लिए भी वे उसे गाँठ से नहीं खोलतीं। इसी प्रकार जिस देवर को उसके पति ने पढ़ाया-लिखाया वही मस्तान जब उन्हें टुकड़ा देता है तो पति की खिन्नता को देखकर वह कहती है 'तुम उन्हें खुश रखो हमारी भी तो किसी तरह कट ही गई।' इस प्रकार की सन्तोष भावना एवं समाधीनता के लिए जिस धैर्य और सहनशक्ति की आवश्यकता होती है वह कुल्सूम के लिए आदत सी बन गई है। उसने देखा है कि उसकी सांसा के मर्म चूल्हों से धुआँ उठ रहा है और उसके अपने बच्चे रोटी को बिलख रहे हैं वह यह भी देखती है कि जो देवर उसी के टुकड़ों पर पला वही आज उसके परिवार की बात भी नहीं पूछता—परन्तु वह सब सहन करती जाती है। जाने को "उसके लिए राम ही काफ़ी है।" धीरे-धीरे उसकी सहनशीलता ही उसकी सभी चारित्रिक विशेषताओं में बामस्कता भरती है और अन्तत वह इन सब के सहारे परिस्थितियों से ऊपर उठ ही जाती है, अथवा यों कह लें कि परिस्थितियों से आदर्श समझौता कर ही लेती है।

इस प्रकार, कुल्सूम एक आदर्श पत्नी के रूप में चित्रित हुई है और उसके माध्यम से यह भी पता चल जाता है कि प्रेमचन्द के लिए हिन्दू अथवा मुस्लिम नारी में कोई अन्तर नहीं था किन्तु जहाँ तक एक वर्ग के प्रतिनिधित्व तथा चारित्रिक विकास के लिए उपयुक्त चित्रणस्थली का प्रश्न है वहाँ निश्चय ही कुल्सूम का विकास स्थानाभाव के कारण घुटा-घुटा-सा रह गया है। 'रंगभूमि' के अपार वैविध्य का प्रहार इस बेचारी पर सर्वाधिक हुआ है। इसमें संदेह नहीं कि किसी अन्य उपन्यास के खुले वातावरण में कुल्सूम का चरित्र और भी अधिक निखर सकता था।

जालपा

'गबन' की जालपा पुरुष-शिक्षा के हेतु निर्मित एक आदर्श पत्नी-प्रतिमा है जिसकी निर्मिति में यथार्थ की भूमिका भी प्रयोग में लाई गई है। इसी मनो-वैज्ञानिक दृष्टि के कारण ही उपन्यास के शेष सभी प्रमुख पात्रों की अपेक्षा वह स्वाभाविकता के अधिक निकट है। उसके चरित्र में प्रेमचन्द यह सोचकर चले हैं कि असत् अथवा असामाजिक संस्कारों को यथार्थत: सत्य के प्रकाश में लाकर बदला जा सकता है। संस्कारगत संकीर्णताओं के चक्रव्यूह से निकलकर

मानवतावाद के विशाल निर्माणात्मक कर्म-क्षेत्र तक की व्यापक पहुँच ही जालपा के चरित्र की आधारभूत विशिष्टता है।

कुछ आलोचकों ने जालपा के चरित्र को दो भागों—रमानाथ के पलायन से पूर्व तथा पलायन के उपरान्त—में विभाजित कर, या तो पूर्व पक्ष को प्राधान्य देकर या फिर उत्तर पक्ष को अतिरंजना मात्र कहकर, उसके चरित्र के साथ अन्याय किया है। किन्तु हमें यह नहीं भूलना चाहिये कि जालपा तक पहुँचते-पहुँचते प्रेमचन्द 'गोदान' से एक ही क़दम पीछे रहे हैं जहाँ उनकी लेखनी बहुत मँज चुकी है और उसके साथ ही विचार प्रवाह की अस्वाभाविकता से भी 'गबन' कोसों दूर है। वस्तुतः जालपा के चरित्र के उक्त दोनों पक्ष ही एक-दूसरे से घनिष्ठतापूर्वक सम्बद्ध हैं। आभूषणप्रियता का अर्थ सत्य के प्रति विमुखता अथवा हृदयहीनता कभी नहीं होता। युवावस्था से पहले हमारे भीतर बोध अधिक होता है होश नहीं क्योंकि हमारी विचारभूमि उस समय उर्वरा होते हुए भी असमतल होती है। अपने संस्कारों को बदल डालने की सामर्थ्य उस समय हम में नहीं होती। जालपा को भी आभूषणों की चाह शैशव से ही मिली है। बाल्यावस्था में ही जब वह हार खरीदने को कहती है तो उसकी माँ सरलता से उसे समझा सकती है कि गहने अच्छे नहीं होते किन्तु वह तो उल्टा यही कहती रहती है "चन्द्रहार तेरे लिये तेरी ससुराल से आयेगा और उसके पिता 'दीनदयाल भी जब कभी प्रयाग जाते तो जालपा के लिये कोई-न-कोई आभूषण ज़रूर लाते। उनकी व्यावहारिक बुद्धि में यह विचार ही न आता था कि जालपा किसी और चीज़ से भी अधिक प्रसन्न हो सकती थी।" और जालपा को सहेलियाँ भी मिलती हैं तो अधिकांश आभूषणप्रिया ही। ऐसी अवस्था में स्वाभाविक ही है कि जालपा का आभूषणों के प्रति तीव्र आग्रह हो और भावी ससुराल को भी वह आभूषणागार समझे। किन्तु प्रेमचन्द तभी से यह भी दिखाना आरम्भ कर देते हैं कि आभूषणप्रियता वंशानुगत प्रभाव होने पर भी नारी की सहज तथा शाश्वत वृत्ति नहीं है। विवाह के अवसर पर ससुराल से चन्द्रहार के न आने पर जालपा इतनी विक्षुब्ध तो अवश्य होती है कि पूजा की थाली तक को उठाकर फेंक देती है किन्तु कनखियों से रमानाथ की सौम्य मुखाकृति को देखकर उसे आन्तरिक आह्लाद भी होता है। इस आह्लाद का मूल प्रेम की स्वाभाविक वृत्ति में है। विवाह से पूर्व तो जालपा ऐसे प्रेम के सम्पर्क में आई नहीं होती है किन्तु विवाह के उपरान्त निश्चय ही वह समझ जाती है कि प्रेम की प्यास आभूषणों की चाह से कहीं अधिक बलवती है। आभूषण उसके लिए अब प्रेम से कहीं गौण हो जाते हैं किन्तु जब रमानाथ उसे

भुलावे में रखकर अपनी सम्पन्नता की डींगें मारता है तो वह उन्हें अनावश्यक भी नहीं समझती—परम्परागत प्रभाव का आखिर इतनी शीघ्रता से तो बदला जा नहीं सकता। पर इसके साथ ही यदि हम जालपा की स्वाभाविक आत्म सम्मान की भावना तक नहीं पहुँच पाते तो निश्चय ही हम उसके चरित्र को गलत समझेंगे। ससुराल में आभूषणों की कमी का दुख तो उसे है ही किन्तु उससे भी भारी दुख उसे यह है कि सम्पन्न होने पर भी उसके सास ससुर उसकी आत्मसम्मान की भावना को ठेस पहुँचाना चाहते हैं। इस विचार के मन में आते ही वह उबल पड़ती है "जब यहाँ कोई मेरी बात नहीं पूछता — तो मैं किसी का अपना नहीं समझती। आए दिन अनाथों की तरह पड़ी रहती हूँ, कोई झाँकता तक नहीं। मैं चिड़िया नहीं हूँ जिसका पिंजड़ा दाना-पानी रखकर बन्द कर दिया जाये। मैं भी आदमी हूँ। अब इस घर में मैं क्षणभर न रहूँगी। और आज उसे पहली बार खेद होता है कि उसका पति बेकार है। जब वह उसे नौकरी ढूंढने के लिए मना लेती है तो यात्रा के लिए बँधे-बँधाये बिस्तर को भी खुल जाने देती है—इसलिये नहीं कि इससे उसकी आभूषणप्रियता को सहारा मिलता है अपितु इसलिये कि प्रेम में जो आत्म सम्मान की भावना होती है इसके द्वारा उसे परितोष मिलता है। इस प्रकार वह आडम्बरों से आरम्भ होकर धीरे-धीरे यथार्थ के निकट तक आना आरम्भ कर देती है। उसके प्रेम में अब यह भावना समाविष्ट है "नहीं मेरे लिए कर्ज की जरूरत नहीं। मैं वेश्या नहीं हूँ कि तुम्हें नोच-खसोट कर अपना रास्ता लूँ। मुझे तुम्हारे साथ जीना और मरना है। उसकी माँ उसे चन्द्रहार भेजती है किन्तु वह पार्सल लौटा देती है। उधर रमा अब भी उसे अँधेरे में रखे हुए है। वह अपनी वास्तविक दशा उससे छिपाता ही रहता है। वह कर्ज लेना आरम्भ करता है। जालपा के लिए हार आता है साड़ियाँ आती हैं, घड़ी आती है—ऐश्वर्य के सभी सामान जुटने लगते हैं। परिणामस्वरूप एक दिन रमा को ऋणभार से दबकर गबन जैसा कुकर्म करना पड़ता है और ग्लानि से बचने के लिये घर से भागकर कलकत्ता जाना पड़ता है। जालपा की यह उक्ति भी उसके कान में होती है "तुम्हें पाकर अब रुपये की परवाह नहीं रही" *और वह पश्चाताप कर रहा होता है कि "मैं अगर निष्कपट होकर रहता तो मेरा* जीवन कितना आनन्दमय होता। इससे भी इसी तथ्य पर प्रकाश पड़ता है कि पति-पत्नी के प्रेम में आभूषणप्रियता बाधा स्वरूप तो थी किन्तु उतनी नहीं जितनी कि रमानाथ की दुराव-लीला। इस प्रकार हम देखते हैं कि जालपा के चरित्र में रमानाथ के पलायन से पूर्व आभूषणों के प्रति परिस्थिति-सापेक्ष

आग्रह होने पर भी प्रेम, आत्म-सम्मान तथा सत्य की ओर झुकाव रखने वाली वृत्तियों का ही परोक्ष रूप से प्राधान्य है। सेवा के अंकुर भी उसमें तभी से विद्यमान हैं। जब रमानाथ ने साधारण नौकरी में पचास-साठ रुपये ऊपर से बनाने की बात कही थी तो उसने घृणात्मक ढंग से कहा था "तो तुम घूस लोगे गरीबों का गला काटोगे ?"

रमा के पलायन के पश्चात् ही जालपा की परिस्थितियाँ करवट बदलती हैं। उसे ज्ञात होता है कि झूठे ऐश्वर्य तथा अवास्तविक प्रसन्नता की अफीम खिला पिलाकर जैसे उसे अज्ञान की गहरी निद्रा में सुला दिया गया था। अब वह निश्चय कर लेती है कि अधिक देर तक नहीं सोयेगी। वह दिखा देगी कि आभूषणप्रियता सत्य नहीं सत्य है उसका पति प्रेम और त्याग। जब वह चन्द्रहार को बेचकर रमा का कर्ज चुका देती है तो 'उसे मालूम हो रहा था मैं कुछ ऊँची हो गई हूँ।' और उसका शेष जीवन इसी विकास की कहानी है। गलती उसकी भी है अतः वह पश्चाताप करेगी। 'आज उसके मन ने पहली बार स्वीकार किया कि यह सब उसी की करनी का फल है। यह सच है कि उसने कभी आभूषणों के लिए आग्रह नहीं किया' लेकिन उसने कभी स्पष्ट रूप से मना भी तो नहीं किया। पश्चाताप के लिये सहन शीलता की आवश्यकता होती है। अब तो उसे सास-ससुर द्वारा लगाये गए इल्जाम भी सिर आँखों पर हैं। विरह को पाकर उसकी प्रेम-भावना और भी चमक उठती है। इतना समझकर ही कुछ सन्तोष कर लेती है कि 'जब हँसना था तब हँसती थी जब रोना है तब रोऊँगी। वह काले कोसों चले गए हैं, पर मुझे तो हरदम यहीं बैठे दिखाई देते हैं।' प्रेम के साथ ही उसकी त्याग भावना भी जाग पड़ती है। वह सब गहनों तथा ऐश्वर्य की वस्तुओं को उठाकर गंगा जी में फेंक आती है। प्रेमचन्द के शब्दों में "हाँ वह वास्तव में माया ही थी—अँधेरे से उजाले को, मिथ्या से सत्य को।" वह निश्चय कर लेती है कि 'अब यदि ईश्वर की दया हुई और वह फिर लौटकर आये तो वह इस तरह घर रखेगी कि थोड़े-से-थोड़े में निर्वाह हो जाये। एक पैसा भी व्यर्थ खर्च न करेगी। अपनी मजदूरी के ऊपर एक कौड़ी भी घर न आने देगी। आज उसके नये जीवन का आरम्भ होगा।

वह नये जीवन की बात सोचकर ही नहीं रह जाती अपितु सक्रिय रूप से उसकी विकास-यात्रा पर सशक्त पगों से निकल भी पड़ती है। ऐश्वर्य की सामग्री गंगा में प्रवाहित करने के उपरान्त वह रमा को ढूँढ निकालती है। विकास-यात्रा पर जितनी अधिक अग्रसर होती है उतनी ही वह सत्य के अधिक

समीप पहुँचती जाती है। वह यह जान जाती है कि आत्म-सम्मान की भावना नारी के लिये परमावश्यक होती है। वकील साहब की पत्नी रतन उसे पैसे देना चाहती है किन्तु वह उससे स्पष्ट कर देती है 'तुम अपने में सोचो तुम्हारे इस बहुलाने में दया का भाव मिला हुआ है या नहीं ? तुम मेरी गरीबी पर तरस खाकर ।' इसके साथ ही जालपा के मन में मानव-सुलभ सहानुभूति का भी उदय होता है। उसे स्वयं दुःख है दर्द की पहचान है अतः रतन के विधवा हो जाने पर वह उसे अपनी सम्पूर्ण सहानुभूति से सहलाती है। जालपा सब परिवार की सेवा भी करती है। वह स्वयं चक्की पीसती है और हैरानी की बात है कि पिता के घर में उसने कभी चूल्हे में फूँक तक मारना नहीं सीखा था। परिस्थितिवश वह कहाँ से कहाँ पहुँच जाती है। किन्तु यह परिवर्तन अस्वाभाविक नहीं लगता क्योंकि अब उसे परिस्थितियों की पहचान है और वह उनसे ऊपर उठने के सतत प्रयास में है।

जालपा का चरित्र और भी ऊँचा उठता है तब जब वह रमा का पता पा जाने के उपरान्त उसके पास कलकत्ता पहुँचती है। पहले जालपा अपने आमोद प्रमोद तक सीमित थी फिर उसे पति-प्रेम की चिन्ता हुई, उसके उपरान्त वह परिवार के प्रति चिन्तित हुई फिर परिवार से बाहर रतन तक भी उसकी सहानुभूति पहुँची—और अब कलकत्ता पहुँचकर तो जैसे वह सत्य को अपनी मुट्ठी में कस लेती है। वह इन सभी क्षेत्रों से ऊपर उठकर मानवता के व्यापक-क्षेत्र में पहुँचती है। अपना प्रायश्चित करती-करती वह कलकत्ता पहुँची है किन्तु अब वह अपने विलास-ग्रस्त पति का प्रायश्चित करके मानवतावादी भावना तक पहुँचती है। कलकत्ता पहुँचकर वह देखती है कि रमा दण्ड के भय से सरकारी गवाह बन गया है। 'उसे रमा पर क्रोध न आया ग्लानि न आई; उसे हाथों का सहारा देकर इस दलदल से निकालने के लिए उसका मन विकल हो उठा' 'वह उसे पतन के अँधेरे खड्ड में न गिरने देगी।' वह सोचती है 'अगर उन्होंने खुद बयान न बदला तो मैं अदालत में जाकर सारा कच्चा चिट्ठा खोल दूँगी चाहे नतीजा कुछ भी हो।' इस प्रकार वह सत्य को किसी भी मूल्य पर छोड़ना नहीं चाहती। कहती है वह रमानाथ से 'अगर तुम्हें यह पाप की खेती करनी है तो मुझे आज ही यहाँ से विदा कर दो। मैं मुँह में कालिख लगाकर यहाँ से चली जाऊँगी और फिर तुम्हें दिक करने न आऊँगी।' "अभी प्रायश्चित पूरा नहीं हुआ है इसलिये यह दुर्वासना हमारे पीछे पड़ी हुई है। मैं देख रही हूँ यह हमारा सर्वनाश करके छोड़ेगी"। किन्तु उस समय बायकाट कर देने पर भी

रमानाथ पहली बार एक झूठे अभियोग की गवाही दे ही देता है जिसके परिणामस्वरूप दिनेश नाम के युवक को फाँसी की सजा सुनाई जाती है और शेष अभियुक्तों को क़ैद की सजा। जालपा को खेद तो बहुत ही हुआ किन्तु उसका मन अपनी हार मानने के लिये किसी तरह राजी न होता था।" वह रमा को दुत्कार देती है। आखिर रमा को सोचना ही पड़ता कि जालपा प्यार करने की ही नहीं उपासना करने की वस्तु है "जालपा मैं तुम्हारे योग्य नहीं हूँ। जिस ऊँचाई पर तुम मुझे ले जाना चाहती हो वहाँ तक पहुँचने की मुझमें शक्ति नहीं है। किन्तु जालपा अन्ततः उसे उस ऊँचाई तक पहुँचा कर ही छोड़ती है। वह हाईकोर्ट में पहुँचकर मुकदमे की सच्ची गवाही देता है और न्यायालय में ही कहता है 'जालपा के त्याग निष्ठा और सत्यप्रेम ने मेरी आँखें खोली हैं। और आज जालपा भी सच्चे दिल से अनुभव कर चुकी है कि 'विलासिनी रूप में वह केवल प्रेम के आवरण के दर्शन कर सकी। आज स्वामिनी बनकर उसने उसका असली रूप देखा। कितना मनोहर, कितना विशुद्ध कितना विशाल कितना तेजोमय। रमा बरी हो जाता है। अब जालपा उसके साथ प्रयाग के पास एक गाँव में जमीन के सहारे रह रही है। उसके एक नन्हा शिशु भी है। वह अपनी गृहस्थी में बहुत सन्तुष्ट है। वह सत्य के मार्ग पर अब भी आरूढ़ है। वह जान गई है कि "जीवन कितना अस्थिर है। इतना अस्थिर कि सत्य के मूल तक पहुँचने के लिए भी अपर्याप्त।

कलकत्ता पहुँचकर जालपा के चरित्र में सत्य के प्रेम तथा त्याग पक्ष ही नहीं उभरे अपितु उसमें सेवा समता तथा व्यापकता का प्रचुर पुट भी मिला है। दिनेश के परिवार की वह जिस सेवा-भावना से सहायता करती है वह साधारण नहीं है रतन को वह जिस बहलापे से तथा जोहरा जैसी वेश्या को भी वह जिस भावना से अन्त तक अपने साथ रखती है वह उसके प्रेम की व्यापकता की परिचायक है और जिस गांधीवादी तथा मार्क्स से भी परिचित युग की सृष्टि होने के कारण वह कहती है "मैं उस चमार को उस पंडित से अच्छा समझूँगी जो हमेशा दूसरों का धन खाया करता है —वह उसकी समता भावना है जो प्रत्येक मानव को मूलतः दूसरे के समान ही रखकर देखती है।

निष्कर्षतः हम देखते हैं कि कहीं भी जालपा के चरित्र-विकास में अस्वाभाविकता नहीं है। उन्हीं शाश्वत वृत्तियों का उसमें उद्बोधन हुआ है जिनका आभास उसके चरित्र में आरम्भ से ही मिलता है किन्तु जो एक मिथ्या विभ्रम के कारण सो भर गई थीं। कुछ भी अप्रत्याशित नहीं घटा है उसके चरित्र में। हममें से जो लोग उसकी आभूषणप्रियता के साथ चिपके रहते हैं और

उसकी चरित्र-परिणति पर आक्षेपपूर्ण आश्चर्य प्रकट करते हैं उन्हें कम-से कम प्रेमचन्द की प्रौढ़ लेखनी पर विश्वास होना चाहिये इतना भी नहीं तो उनकी लेखनी के साथ-साथ चल रहे सुधार-युग की पहचान होनी चाहिये और यदि हम इतनी सामर्थ्य भी नहीं रखते तो कम-से-कम अब भी हम जालपा को इतना कहते हुए तो सुन सकें कि "मैंने पापों का कुछ प्रायश्चित किया है और शेष जीवन के अन्त तक करूँगी। यह मैं नहीं कहती कि भोग विलास से मेरा जी भर गया या गहने-कपड़े से मैं तंग आ गई या सैर-तमाशे से मुझे घृणा हो गई। ये सब अभिलाषाएँ ज्यों की त्यों हैं। (क्योंकि मैं इन्सान हूँ और आकांक्षा स्वभावतः ही मुझ में विद्यमान है)। पुरुषार्थ से अपने परिश्रम से अपने उद्योग से उन्हें पूरा कर सकी तो क्या कहना लेकिन नीयत खोटी करके आत्मा को कलुषित करके एक लाख भी लाखों तो मैं ठुकरा दूँगी।

रतन

जीवन के प्रांगण में ऐसे भी प्राणी खेलकर चले जाते हैं जो मूलतः वेदना ही की सृष्टि होते हैं। उनके जीवन में कुछ भी भावात्मक नहीं होता। उनका प्रेम उनका त्याग उनकी सेवा उनका कर्तव्य—उनका सर्वस्व ही निष्ठुर जीवन के साथ अनचाहा समझौता होता है। वे जानते हैं कि संसार उनके निवास का उपयुक्त स्थान नहीं किन्तु वे मान कर चलते हैं कि साथ तो लेनी ही है। तड़पनों का दामन पकड़कर मर्यादा का पालन करने वाले उन गिने-चुने खिलाड़ियों में एक 'गबन' की रतन भी है जिसका सम्पूर्ण जीवन ही पराजिता का एक समझौता है, समझौता जो कि मूलतः अभावात्मक ही होता है।

रतन के सम्पूर्ण चरित्र का विश्लेषण उसकी कर्तव्यमुख वृत्ति राग के अन्तर्गत किया जा सकता है। राग प्रधानतः भावात्मक ही हुआ करता है क्योंकि उसमें सृजन की भावना होती है और उससे उद्भूत प्रेम आनन्द का विषय होता है। किन्तु उसका एक अभावात्मक पक्ष भी होता है जिसमें निरीहतामयी कर्तव्यों की माँग का प्राबल्य हुआ करता है। प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में राग (अथवा व्यापक प्रेम) के ये दोनों पक्ष विद्यमान होते हैं—भावात्मक तथा अभावात्मक और इन्हीं के आधार पर उसके क्रमशः सुखी अथवा दुःखी जीवन का माप हुआ करता है। व्यक्तिगत दृष्टि से चाहे कोई दुःख अथवा अभाव को ही जीवन-सत्य मान कर चले किन्तु व्यवहारतः भावात्मक जीवन ही श्रे---

यौवन माना जाता है। रतन एक युवती है। यौवन राग प्रधान हुआ करता है किन्तु रतन का राग भावों के अधिक अभावों से ग्रस्त है—वह प्रधानतः अभावात्मक है और गौण रूप से भावात्मक।

राग के अभावात्मक पक्ष के अन्तर्गत आती है रतन की जीवन भर की प्यास तृषा जो आजीवन बुझ न सकी। यौवन-सम्पन्ना के राग की स्वाभाविक तथा प्रमुख माँग होती है प्रणय ऐसा प्रेम जिसके परितोष का सफल माध्यम होता है स्वस्थ विवाह। पर रतन तो विवाहिता होती हुई भी अविवाहिता-सी है। साठ वर्ष के अवलम्बहीन वकील साहब ने अपने एकमात्र पुत्र की मृत्यु पर, उसे पत्नी रूप में जीवनाधार बनाया है। उसकी सखी जालपा जब पहली बार उसके घर आती है तो समझ नहीं पाती कि रतन वकील साहब की बेटी है अथवा पत्नी। प्रेमचन्द के शब्दों में भी 'वकील साहब को रतन से पति का सा प्रेम नहीं पिता का-सा स्नेह था उनके पास उसे प्रसन्न करने के लिये धन के सिवा और चीज ही क्या थी? उन्हें अपने जीवन में एक आधार की जरूरत थी सदेह आधार की।' अर्थात् वकील साहब के लिये रतन का पत्नीत्व एक आधार मात्र है। उधर रतन भी जालपा से कहती है "मुझे तो इनके ऊपर दया आती है।" अर्थात् व्यक्तिपरक दृष्टि से रतन का पत्नीत्व दया मात्र है। किन्तु पत्नीत्व न तो प्रमुखतः पति का आधार मात्र होता है और न ही उसकी सफलता पति पर तरस खाने में होती है। दाम्पत्य का मूल तो वह समर्पण की भावना होती है जिसमें एक गुदगुदी-सी होती है आत्म-विस्तार की उत्कट चाह होती है और जिसमें कन्धे से कन्धा मिला कर जीवन में सोत्साह अग्रसर होने की सामर्थ्य होती है। यह तो होती है विवाह की भावात्मक स्थिति। परन्तु रतन किसके साथ कन्धा मिलाकर चले? उस कन्धे के साथ जिसे स्वयं आधार की जरूरत है? उमंगों भरे जीवन का समर्पण किसके प्रति करे—उसके प्रति जो अवस्था में तथा स्वभाव से पिता तुल्य है? तो फिर क्यों न रतन का पत्नीत्व नैसर्गिक अभावों का संक्रमण हो? वस्तुतः रतन का विवाह अनमेल विवाह है और अनमेल विवाह भावात्मक कभी नहीं हो सकता क्योंकि अभाव-रहित ही तो भावसहित होता है। प्रेम रहित विवाह की कल्पना मरीचिका होती है। अभाव से अभाव ही की सृष्टि सम्भव है। अतः रतन को और भी दिशा-विभ्रम हो जाता है। वह अपने अभावों के लिए आधार की खोज में चल पड़ती है और यह बात सत्य है कि उसे स्वयं इसका ज्ञान नहीं किन्तु उसे अपनी सीमाओं का ज्ञान अवश्य है। उसके द्वार पर वकील साहब चौकीदारी कर रहे हैं अतः वह जो कुछ भी सोचती है मर्यादित होकर ही।

वकील साहब को उसका आधार है किन्तु वह स्वयं अपना आधार ढूँढ़ती है वैभव-व्यस्त रहने में। आभूषण उसे इसीलिये प्रिय हैं पार्टियों का आयोजन इसीलिये वह नित्य प्रति घर पर करती ही रहती है क्योंकि "उसका एकान्त नीरव जीवन इन विषयों की ओर उस भाँति लपकता था जैसे प्यासा पानी की ओर लपकता है।" किन्तु इतने से भी अभावग्रस्त मानव-मन की परितृप्ति सम्भव नहीं। अतः मन रतन की सख्य भावना भी उभरती है। पहली बार जब वह जालपा को घर बुलाती है तो कहती है "आज तुम्हारे आने से जी बहुत खुश हुआ। दिन भर अकेली पड़ी रहती हूँ। जी घबराया करता है। किसके पास जाऊँ।" साथ ही वह सखी भी ऐसी चाहती है जो अन्तरंग हो वह नहीं जो उसके वैभव के कारण खिंची आए। वह बताती है जालपा को "दो एक महिलाओं ने बुलाया उनके घर गई, चाहा कि बहनापा जोड़ूँ लेकिन उनके आचार विचार देखकर उनसे दूर रहना ही अच्छा मालूम हुआ। दोनों ही मुझे उल्लू बनाकर लूटना चाहती थीं। मुझसे रुपया उधार ले गईं और आज तक दे रही हैं। शृंगार की चीजों पर मैंने उनका इतना प्रेम देखा कि कहते लज्जा आती है। तुम बड़ी-भाग-भरी के लिए रोज चली आया करो बहन।" इस तरह का आग्रह वही व्यक्ति कर सकता है जिसके जीवन में समवयस्कीय स्नेह अथवा प्रेम का अभाव हो। यही कारण है कि जो भी कोई उसके सम्पर्क में आता है वह रुपये-पैसे के सिलसिले में उसे संदेह की दृष्टि से ही देखती है। जालपा के पति को कंगन बनवाने के लिये रुपए देती है किन्तु उसमें अधिक विलम्ब हो जाने पर खीझ कर कहती है "न रुपये मिलते हैं और न कंगन मिलता है" और यद्यपि रुपये वापिस ले लेती है पर इसका यह तात्पर्य नहीं कि उसे मन से प्यार है यह तो उसके लिये विश्वास-भाव की परख थी। यह संदेह-वृत्ति भी अभाव-पूर्ति की असफल अथवा सफल चेष्टा की ओर ही इंगित करती है। एक स्थान पर तो प्रेमचन्द ने इस अभाव के उस पक्ष को और भी हल्का-सा संकेत किया है। जालपा के पति रमा के साथ वह झूला झूलती है तो वैसे उसमें परोक्ष रूप से उसे एक तल्लीन-सी मिलती है पर उसके प्रति वह एकदम सजग हो जाती है और सम्भवतः यही कारण है कि वह रमा के पत्र का उत्तर नहीं देती। वस्तुतः कई बार तो रतन स्वयं ही अपने से बहुत दूर हो जाती है और अपने आप में एक आत्म विरोध-सा ले आती है। इसमें सन्देह नहीं कि वह नारी है और उसमें मातृ-भावना का विलोप नहीं है परन्तु जहाँ एक स्थान पर तो वह जालपा से कहती है "बहन मुझे तो संतान की लालसा नहीं है" वहाँ दूसरे स्थान पर यह भी सुनने को मिलता है "

भाई को बाल-समाज से बड़ा स्नेह है। न जाने कहाँ से इतने लड़के जमा हो जाते हैं। वस्तुतः यह सब कुछ रतन के जीवन में उसकी अतृप्त राग-वृत्ति का ही परिणाम है। उसकी प्यास ही नाच नचाती है उसे। 'मुझे तो करना ही पड़ेगा' और 'मैं नहीं तो कौन करेगा' —एक ही वस्तु को देखने के ये दो दृष्टिकोण हैं। रतन की रागवृत्ति में प्रथम का ही प्राधान्य है और निश्चय ही यह अभावजन्य है। किन्तु रतन के राग के इस अभावात्मक पक्ष की भी एक आदर्श उपलब्धि है और वह है मर्यादा का पालन। कहीं भी रतन पत्नीत्व को स्खलित नहीं होने देती और स्खलित तो क्या देखने वाले को प्रतीत तक नहीं होने देती कि वह जीवन के अभावों से समझौता किये हुए है अथवा सहन शीलता के सहारे टिकी हुई है—अथवा उसे कोई प्यास भी है। इस प्रकार हम देखते हैं कि रतन के जीवन के अभावात्मक पक्ष में उसके अतृप्त पत्नीत्व के साथ उसकी सरल भावना आत्मपरायणता अकर्तव्य का ज्ञान तथा सहन शीलता आदि की विशेषताओं से बँधे होने के कारण जिस सत्य की प्राप्ति होती है वह है मर्यादा-पालन। इस मर्यादा-पालन के अचेतन में हैं कुण्ठाएँ। वह पत्नी है और उसका पति भी जीवित है अभी उसके पास है। दूसरी ओर जालपा का पति घर से भागा हुआ है और स्वाभाविक है कि उसे दुःख हो किन्तु जब रतन बीमार पति को लेकर कलकत्ता जाती है तो "आज उसे (जालपा को) रतन का असली रूप दिखाई दिया। वह सचमुच अभागिनी है और मुझसे बढ़कर। रतन का यह मर्यादा-पालन वस्तुतः कुण्ठित व्यक्ति का आदर्शाचरण है।

दूसरी ओर, रतन की रागवृत्ति का भावात्मक पक्ष भी है जिसके साथ सम्बद्ध हैं उसकी सेवा-भावना कर्तव्य-भावना तथा मानव सहानुभूति आदि की विशेषताएँ। वह वकील साहब से असन्तुष्टि की तनिक भी अभिव्यक्ति नहीं करती। ऐसा आभास होता है जैसे वह ठीक ही जालपा से कहती है मुझे तो कभी यह ख्याल भी नहीं आया बहन कि मैं युवती और वे बूढ़े हैं। वकील साहब के प्रति उसे सहानुभूति ही नहीं अपितु वह उन्हें देवता समझकर उनकी सेवा भी करना चाहती है। उनके बीमार होने पर उसकी इच्छा होती है "अगर कोई मेरा सर्वस्व लेकर भी इन्हें अच्छा कर दे कि इस बीमारी की जड़ टूट जाये तो मैं खुशी से दे दूँगी। कलकत्ता पहुँचकर वह वकील साहब की इतनी सेवा करती है कि उन्हें कहना पड़ता है 'मुझे डर है कि मुझे अच्छा होकर तुम्हारी दवा न करनी पड़े।" और सब प्रयास जब निष्फल जाते हैं तो उनके दिवंगत हो जाने पर भी उसे क्षोभ रहता है कि वह उनकी यथायोग्य

सेवा न कर सकी। उन चरणों को मस्तक से स्पर्श करके साथ उसके हृदय
में कितना अनुराग उमड़ा आता था मानो एक युग की संचित निधि को वह
साथ ही इसी तरह लुटा देगी। श्राद्ध के दिन वह अपने सारे वस्त्र और
आभूषण महापात्र को दान कर देती है। विधवा के रूप में उसके चरित्र की
सेवा-भावना को त्याग का स्पर्श मिलता है। "यही रतन जिसने रुपयों की कभी
हकीकत न समझी इस एक ही महीने में रोटियों को भी मुहताज हो गई थी
किन्तु पति की सम्पत्ति को समेटने वाले मणिभूषण के समक्ष वह झुकती नहीं
है। रमा तथा जालपा के साथ वह एक बीच में रहती है और वहाँ जोहरा
नाम की वेश्या को जो सहानुभूति वह देती है जालपा भी वह नहीं दे पाती।
अन्ततः यहीं विधवा रतन की मृत्यु किसी रोग के कारण हो जाती है। भावी-
मन ममतासक्त रहकर भी उसने दूसरों के लिए भावों की मुक्त-वर्षा की थी।
प्रेमचन्द के शब्दों में "रतन की मृत्यु का शोक वह शोक न था जिसमें आदमी
हाय-हाय करता है बल्कि वह शोक जिसमें हम मूक रुदन करते हैं जिसकी
याद कभी नहीं भूलती जिसका बोझ दिल से कभी नहीं उतरता।"

इस प्रकार रतन के चरित्र में स्वाभाविकता की एक लड़ी विद्यमान है।
किन्तु मानव-ज्ञान पर आश्रित होते हुए भी उसके सम्पूर्ण चरित्र को प्रेमचन्द
उचित विकास नहीं दे पाये हैं। यह बात बहुत ही खलती है कि विधवा हो जाने
के उपरान्त मृत्युपर्यन्त का उसका चित्रण उपन्यास में लुप्तप्राय है। इधर-उधर
दो-चार पुष्प बिखेर कर उसके चरित्र का अस्वाभाविक अन्त कर दिया गया
है। निश्चय ही उसकी चरित्राभिव्यक्ति यहाँ दोषपूर्ण है। वस्तुतः यह अपराध
प्रेमचन्द की उपयोगितावादी दृष्टि की अविचारिता का है। विधवा रतन को
उन्होंने केवल अपने से तथ्य का माध्यम बनाकर रख दिया है कि आर्थिक दृष्टि
से नारी बहुत ही पराधीन है। उस समय हिन्दू कोड बिल जैसी व्यवस्था
भारतीय न्याय संहिता में नहीं थी और सम्भवतः प्रेमचन्द ने विधवा रतन के
रूप में इसी सामयिक उपयोगिता की ओर इंगित किया है। इसीलिये मरते
समय भी रतन की पुतलियों के आगे कार और बगीचा ही घूमते रहते हैं।
परन्तु वैधव्य-पूर्व की रतन तथा विधवा रतन में यदि तुलना करें तो ज्ञात होता
है कि पति-सम्पत्ति के त्याग के उपरान्त जो प्रेमचन्द ने कहा था कि "आज
उसके वास्तविक जीवन का आरम्भ हुआ —वह 'वास्तविक जीवन' नाम की
वस्तु रतन के चरित माध्यम से स्पष्ट नहीं हुई है। एक तो नारी के लिए
अधिकार प्राप्ति जैसी मांग को प्रेमचन्द स्वयं ही वास्तविक जीवन की सार्थकता
नहीं मानते (गोदान में मेहता का वक्तव्य इस दृष्टि से द्रष्टव्य है) और दूसरे

हैं' —इसका अर्थ यही है कि यौन भावना को झुठलाया नहीं जा सकता उसमें आत्म-समर्पण की तीव्रता होती है जिसकी पूर्ति का स्वस्थ-साधन होता है स्वस्थ विवाह । सो विवाह-पूर्व की निर्मला में यौन भावना प्रधान है और गम्भीरता भावुकता एकान्तप्रियता भाई-बहनों के प्रति वात्सल्य स्नेहशीलता निरात्म एवं अभिष्ठार्पणिकता रहना आदि—उसकी इन सम्पूर्ण चरित्र-विशेषताओं में यौन भावना अथवा भावी पत्नीत्व की जिज्ञासा का स्वर ही प्रधान है ।

उपर्युक्त रेखाएँ निर्मला के विवाह से पूर्व ही प्रेमचन्द के मस्तिष्क में विद्यमान थी । उसके विवाह के उपरान्त उन्होंने इन रेखाओं में रंग भरने आरम्भ कर दिये । यौन भावना की पृष्ठभूमि पर सब से पहला रंग जो उन्होंने भरा वह है वासना का उदात्तीकरण । निर्मला के चरित्र में सर्वप्रमुख विशेषता यही है कि उसमें वासना का उन्मूलन नहीं अपितु उदात्तीकरण है । उसका विवाह स्वभाव-भेद से ही नहीं अवस्था भेद से भी अनमेल है । विवाह की मुहर-मात्र लग जाने से तो स्वाभाविक वासनात्मक संस्कारों की समस्या हल नहीं हो जाती । निर्मला के मन में भी उठलाती हुई उमगें हैं । पति के चोचले प्रेम-प्रदर्शन को देखकर उसके मन में आता है इस घर में आग दूं । "वह अपना रूप और यौवन उन्हें नहीं दिखाना चाहती क्योंकि वहाँ देखने वाली आँखें नहीं हैं ।" इसका कदाचित् यह कारण था कि अब तक ऐसा ही एक आदमी उसका पिता था जिसके सामने वह सिर झुकाकर, देह चुराकर निकलती थी अब उनकी अवस्था का एक आदमी उसका पति था । वह उसे प्रेम की नहीं सम्मान की वस्तु समझती थी । अतः निर्मला बहुत देर तक अपनी यौन भावना को झुठला नहीं पाती । उसकी वासना तृप्ति चाहती है । वह उसे अपने समवयस्क मन्सा राम—पति के बड़े लड़के से सम्पर्क के रूप में मिलती है । 'मन्साराम से हँसने बोलने में उसकी विलासिनी कल्पना उत्तेजित भी होती है और तृप्त भी । स्वयं निर्मला भी इस तथ्य को स्वीकार करती हुई कहती है "यह मैं जानती हूँ कि अगर उनके मन में पाप होता तो मैं उनके लिये सब कुछ कर सकती थी ।" इस प्रकार निर्मला के चरित्र में वासना का निर्मूलन नहीं है किन्तु दूसरी ओर उसे एक मानसिक दिशा की ओर प्रवाहित किया गया है । इसमें तो सन्देह नहीं कि भारतीय दृष्टि के अनुसार कल्पना को अथवा दूषित विचारों को भी कर्म ही के अन्तर्गत रखा गया है किन्तु यह भी झूठ नहीं है कि निर्मला उसी कल्पना के सहारे ही ऊँची उठी है । मन्साराम जैसे आलम्बन को पाकर वह 'स्वप्न में भी उससे अनुचित प्रेम करने की बात न सोच सकती थी' —यह प्रेम चन्द का कथन है जिसकी अवज्ञा हमारे विचार से उनकी निर्मला ने ही उप

युक्त तीव्र शब्दों में कर दी है। इतना होते हुए भी निर्मला के इस प्रेम प्रसंग का महत्त्व इस दृष्टि से अधिक है कि इसी के द्वारा उसके चरित्र में त्याग आत्म-बलिदान एवं अन्य मानवीय संवेदनाओं के साथ ही उस उच्चादर्श का भी सूत्रपात होता है जो उसकी सहेली सुधा के डाक्टर पति के एकान्त विलास निमन्त्रण में भी उसके सतीत्व को खण्डित नहीं होने देता। यह एक आश्चर्य जनक किन्तु सत्य बात है कि सतीत्व रक्षा का पाठ उसने पति से अधिक मन्साराम के कष्टान्त से सीखा है। स्वयं मन्साराम के लिए वह अपने रक्त की अन्तिम बूंद तक देने को तत्पर हो जाती है। वही मृत्यु आजीवन उसकी आँखों के सामने नर्तन करती रहती है जिसके माध्यम से मन्साराम ने उसे निष्कलंक प्रमाणित करते हुए माँ के सम्बोधन द्वारा मातृत्व के गम्भीर पक्ष की ओर उन्मुख होने की प्रेरणा प्रदान की थी और इस तथ्य को हृदयस्थ करा दिया था कि निष्कलंक प्रेम ही गर्व से सिर उठा सकता है। रुक्मिणी जैसी कठोर एवं कुण्ठित ननद का भी निर्मला के चरित्र के इसी उदात्त पक्ष के कारण नर्म होना पड़ता है। कहा जा सकता है निर्मला की भावना का उदात्तीकरण चारित्रिक असाधारणता की अपेक्षा परिस्थिति-सापेक्ष अधिक है। हमारे विचार से यही कारण है कि वह अधिक स्वाभाविक एवं विश्वसनीय है—माधवी (वरदान) एवं सुमन (सेवा-सदन) आदि की चरित्र-परिणति से भी कहीं अधिक विश्वसनीय।

निर्मला के चरित्र की दूसरी प्रमुख विशेषता है सहनशीलता। एक तो अनमेल विवाह दूसरे आर्थिक ह्रास और तिस पर गार्हस्थ्य-वैषम्य। स्वाभाविक ही है कि निर्मला अन्तर्मन में वेदना ही की प्रतिकृति हो। रुक्मिणी भी कहती है 'तुम्हारा वज्र का हृदय है महारानी।' नित्यप्रति व्यंग्य-बाणों की बौछार उपेक्षित दृष्टियों की ताक-झाँक विभिन्न अपराधों का आरोपण और क्या नहीं—निर्मला को सब सहा है। पर किसने समझा कि "उसके हृदय में विलाप की ज्वाला-सी दहकती रहती थी जिसकी असह्य वेदना ने उसे संज्ञाहीन-सा कर रखा था" ? 'गबन' की रतन के पति ने और कुछ नहीं तो रतन को समझा तो था उसके प्रति अन्याय को स्वीकार तो किया था किन्तु निर्मला को तो यह अभावात्मक सान्त्वना भी नसीब नहीं है। वह तो जैसे बनी ही सहन के हेतु है। प्रेमचन्द के शब्दों में 'निर्मला की दशा उस पंखहीन पक्षी की तरह हो रही थी जो सर्प को अपनी ओर आते देखकर उड़ना चाहता है पर उड़ नहीं सकता' उछलता है और गिर पड़ता है' पंख फड़फड़ा कर रह जाता है। सच ही मरते दम तक निर्मला ने जीवन से समझौता किया है पलायन नहीं।

निर्मला अपने कर्त्तव्य से भी कभी च्युत नहीं हुई है। पत्नी के रूप में गृहिणी के रूप में विमाता के रूप में पुत्री भगिनी एवं सहेली के रूप में—सर्वदा उसने प्रत्येक सम्भव मर्यादा का पालन किया है। इसमें लेशमात्र भी सन्देह नहीं कि पति से प्रेम उसे नहीं है अन्त में तोताराम जब घर छोड़कर जाते हैं तो भी उसे उनके विरह का दुःख नहीं होता अपितु नन्हीं बच्ची के भविष्य की एक ऐसी चिन्ता होती है जो बच्ची पालन न जाने के अभाव में होती है। तोताराम के प्रेम-प्रदर्शन से उसे वितृष्णा ही नहीं तीव्र घृणा भी रही है। फिर भी यह एक वास्तविकता से कम नहीं है कि उसने उनको सम्मान ही नहीं दिया उनकी सेवा ही नहीं की गृहस्थी का लेखा-जोखा ही उनके सामने प्रस्तुत नहीं किया अपितु सम्पूर्ण व्यक्ति को कर्तव्य के आंचल में समेटकर सर्वोत्सर्ग भी किया है—पिता के समान पुरुष की वासना को अवलम्ब दिया है आत्मोत्सर्ग किया है। गृहिणी के रूप में उसने सबको खिलाकर फिर स्वयं खाया है। *विमाता होती हुई भी वह वकील साहब (पति) से अधिक लड़कों* के भविष्य के विषय में चिन्तित रही है। पुत्री के रूप में उसे पशु की भांति जिस घर में हांक दिया गया है वहां भी उसने अपनी पितृपक्ष की लज्जा का निरादरण नहीं किया है। भगिनी के रूप में उसने कृष्णा की अपनी जैसी दुर्दशा नहीं होने दी है और सहेली के रूप में भी यद्यपि वह बहुत सफल नहीं तो भी विश्वासघातिनी नहीं बनी है। वस्तुतः कर्तव्य के क्षेत्र में निर्मला सबके प्रति कुछ-न-कुछ सजग रही है, नहीं रही तो अपने प्रति—विमुख होने के अतिरिक्त कुछ नहीं रही। कुछ आलोचकों ने निर्मला के चरित्र के इस पक्ष को प्रतिवादी आदर्श के अन्तर्गत रखते हुए अस्वाभाविक ठहराया है। हमारे विचार से केवल निर्मला उपन्यास को पढ़ लेने से ही यह भ्रान्ति होती है प्रेमचन्द की नारी भावना से अवगत हो जाने पर यह असंगति के अतिरिक्त शेष कुछ नहीं रह जाती। थोड़ी देर के लिए यथार्थ प्रतिपादन की दृष्टि से इसे कुछ अस्वाभाविक मान भी लिया जावे तो प्रश्न यह उठता है कि इसके अतिरिक्त निर्मला के चरित्र की और क्या निर्माणात्मक परिणति हो सकती थी जो यथार्थोत्पादकता के साथ ही हमारे मूल्यों का हनन भी न करती?

निर्मला का मातृत्व भी उसके चरित्र-संगठन में महत्त्वपूर्ण रहा है। आज के उपन्यास लेखक समस्याओं के उलझाव में युवती के पत्नीत्व अथवा रमणीत्व के समक्ष जिस मातृत्व को उपेक्षित समझ लेते हैं प्रेमचन्द की 'निर्मला' में उसके अंकुर प्रारम्भ से ही विद्यमान हैं। तोताराम के रोते हुए 'बालक को गोद में लिये हुए उसे यह तुष्टि हो रही थी जो अभी तक कभी न हुई थी। मान

पहली बार उसे आत्मवेदना हुई जिसके बिना आँख नहीं खुलती अपना कर्तव्य-मार्ग नहीं सूझता। यह तो निर्मला का दुर्भाग्य है कि विमाता के रूप में उसका वात्सल्य केवल दया के पर्याय से अधिक नहीं समझा गया पर अपनी नन्हीं कन्या को जन्म देने के उपरान्त उसे जैसे जीने का सहारा मिल जाता है। "बालिका को हृदय से लगा कर वह अपनी सारी चिन्तायें भूल गई थी मातृत्व के इस उद्गार से उसके सारे क्लेश विलीन हो गए थे।" उसका पति बच्ची के प्रति उदासीन हो जाता है तो वह मन-ही-मन कलपती है "अगर तुम इसके बोझ से दबे जाते हो तो आज से मैं इस पर तुम्हारा साया भी न पड़ने दूँगी। जिस रत्न को मैंने इतनी तपस्या के बाद पाया है उसका निरादर करते हुए तुम्हारा हृदय फट नहीं जाता?"—तपस्या क्या थी यह तो निर्मला की अन्तर्वेदना ही जानती होगी किन्तु इतना अवश्य है कि भविष्य में वह कन्या के भविष्य के प्रति विशेषतः चिन्तित रहती है और पति के धन्धे में मन्दे के दिनों में एक-एक कौड़ी दाँत से पकड़ने लगती है। मरते दम तक निर्मला को यह चिन्ता लगी ही रहती है शायद इसलिये कि जिस कर्तव्य को उसकी अपनी माँ निभा नहीं पाई थी मातृत्व की वह सहज प्रतिक्रिया उसे सदैव कचोटती रहती थी।

उपर्युक्त आधारभूत विशेषताओं के अतिरिक्त निर्मला के चरित्र में उसकी निजी त्रुटियाँ भी हैं। उनमें से एक यह है कि आवेश की अवस्था के उपरान्त ही वह मन में समाई हुई अथवा अधरों से निकली हुई बात को तौलती है। ऐसे क्षण को जो किसी के संहार तथा किसी के वैधव्य का कारण हो सँभाल न पाना एक भारी कमजोरी होती है। सुधा के पति की मृत्यु उसकी इसी असावधानी का परिणाम है। जो वासना कभी स्वयं उसके द्वारा भी अनिमन्त्रित रही थी सुधा के पति के प्रसंग में भी वह असामान्य नहीं थी। इसी प्रकार, निर्मला की पारिवारिक सहनशीलता ने घर से बाहर उसकी आत्म-सम्मान की भावना को किसी सीमा तक दबोच रखा है। और कहीं नहीं तो कृष्णा के विवाह में सुधा के पति के समक्ष उसी निष्क्रियता के विद्रोही स्वरूप का स्पष्टीकरण हो जाना चाहिए था।

जहाँ तक चरित्र-चित्रण का प्रश्न है, यदि अन्तिम प्रभावोत्पादन ही उस रचना की कसौटी है तो निश्चय ही निर्मला की अभिव्यक्ति सम्पूर्ण प्रेमचन्द साहित्य में बेजोड़ है। निर्मला नारी-जीवन का एक करुणतम अध्याय है जिसे पलटने के उपरान्त समाज के प्रति प्रेमचन्द एक विचारक के रूप में दृष्टिगोचर होते हैं। अधिकांश आलोचकों का मत है कि निर्मला में भी प्रेमचन्द

को विवाह-समस्या के हल का कोई छोर नहीं मिला है। हमारे विचार से बात ऐसी नहीं है। सोफिया की समस्या समाधानरहित हो सकती है, सुमन और मालती आदि चरित्रों की समस्याओं के हल अपूर्ण हो सकते हैं—किन्तु निर्मला ने अपनी समस्या का हल स्वयं ही हमारे सामने प्रस्तुत किया है। उसकी समस्या है अनमेल विवाह की। मृत्यु-शय्या से संदेश के रूप में उसने उसका समाधान छोड़ा है "निर्मला की सांस बड़े वेग से चलने लगी। फिर खाट पर लेट गई और बच्ची की ओर एक ऐसी दृष्टि से देखा जो उसके जीवन की सम्पूर्ण विपत्कथा की वृहद् आलोचना थी, वाणी में इतनी सामर्थ्य कहाँ"। वस्तुतः यह दृष्टि वही है जिसे 'निराला' ने 'तोड़ती पत्थर' में 'जो मार खा रोई नहीं' कहा है। निर्मला आज भी कह रही है "बच्ची को आपकी गोद में छोड़े जाती हूँ। अगर जीती-जागती रहे तो किसी अच्छे कुल में विवाह कर दीजिएगा चाहे क्वारी रखियेगा चाहे विष देकर मार डालिएगा पर कुपात्र के गले न मढ़िएगा इतनी ही आपसे विनय है।"

मुन्नी

मुन्नी प्रेमचन्द की अमर-भाव-सृष्टि है। जीवन की विरक्तिमूलक विषम अनुभूतियों का जैसा चित्त-परिवर्तन 'कर्मभूमि' की मुन्नी के चरित्र में उपलब्ध होता है वैसा सम्पूर्ण प्रेमचन्द-साहित्य में नहीं मिलता। मालती अथवा जैनी की भाँति मुन्नी को बीच में नहीं छोड़ दिया गया है। मुन्नी तो एक ऐसे पथ पर अग्रसर हुई है जहाँ अपने-पराये का भेद भाव मिट जाता है, जहाँ हृदय की अथाह वेदना सक्रिय रूप से लोकमंगल की ओर मुड़ जाती है और जहाँ व्यक्ति परम्परागत आदर्शों के पाश को छिन्न-विच्छिन्न करता हुआ आत्म-निष्ठा के सहारे जीवन से आदर्श समझौता करके विषम भाव से ऊपर उठने का प्रयत्न करता है।

मुन्नी के चरित्र के तीन मोड़ स्वतः स्पष्ट हैं। पहले मोड़ की सीमा पति गृह से लेकर पति की मृत्यु अथवा आत्महत्या के प्रयत्न तक की है। पति के साथ मुन्नी के सम्पर्क की अभिव्यक्ति यद्यपि बहुत कम हुई है तथापि उसके पत्नीत्व के स्वरूप की पहचान यहीं पर ही होती है। अतः उसके जीवन के इस पक्ष को उसका पत्नी रूप भी कहा जा सकता है। पत्नी रूप में मुन्नी सतीत्व रक्षा को सर्वप्रथम महत्त्व देती है। सतीत्व को वह परिणीता की एकमात्र बलप्रदायिनी शक्ति समझती है। इससे वंचित होकर एक नारी समाज की और अपनी नजरों में गिर जाती है। गोरे सिपाहियों द्वारा सतीत्व खण्डित हो जाने के उपरान्त मुन्नी आजीवन किसी भी पति की कल्पना को मन में समुचित

स्थान नहीं देती। यह उसके नारीत्व का ही तिरस्कार नहीं अपितु उसके सतीत्व का सदैव के लिए अपहरण था। प्रेमचन्द के शब्दों में "उसकी जिस वस्तु का अपहरण किया था उसे कौन दिला सकता था? दुष्टों को मार डालो इससे तुम्हारी न्याय-बुद्धि को सन्तोष होगा उसकी तो जो चीज जानी थी गई।" मुन्नी स्वयं न्यायालय में कहती है "मैं तो भगवान् से मनाती हूँ कि जितनी जल्दी हो सके मुझे संसार से उठा ले जब आबरू लुट गई तो जी कर क्या करूँगी?" समाज चाहे उसे स्थान दे न दे उसकी अपनी दृष्टि में ही उसके सतीत्व की मृत्यु हो चुकी है—उस सतीत्व की जिसके बूते पर वह आज भी किसी से कहने के लिये तिलमिला उठती है "मैं तुम्हारे पति को अपने पति का पैर धोने योग्य भी नहीं समझती" कितना गर्व था उसे अपने सतीत्व पर। 'मेरा वह छोटा-सा संसार कितना सुखमय था'—आज भी वह इस याद को भूल नहीं पाई है, किन्तु आज तो वह एक कहानी है उसके जीते जी उसके सतीत्व को बरबस एक कहानी बना दिया गया है। कुछ भी हो उस कहानी की याद को तो उससे कोई नहीं छीन सकता वह उसकी अपनी है सदा-सदा के लिए अपनी। सतीत्व-रक्षा के हेतु जिस आत्म-सम्मान की आवश्यकता होती है उसे तो कभी नहीं छोड़ा उसने—तब भी और अब भी। इसी आत्म सम्मान के प्रेरणा स्वरूप ही तो गोरों से प्रतिशोध लिया है उसने और इसी के कारण ही वह समाज के दयाभाव को ठुकरा भी देती है। दूसरे की दया को वह आत्म-सम्मान में बाधक समझती है। कहती है वह "जब तक मैं अपने आप को इस धोखे में डाले हुए थी कि दाग मेरे मुख से कालिख छूट गई और अब मुझे भी अपनी और बहनों की तरह विश्वास और सम्मान मिलेगा। परन्तु मन की मिठाई के स्वाद से किसका पेट भरा है। यदि आज सरकार मुझे छोड़ भी दे, मेरे भाई-बहन मेरे गले में फूलों की माला भी डाल दें मुझ पर अशर्फियों की बरखा भी कर दें तो क्या मैं यहाँ से अपने घर जाऊँगी? हमें जीवन इसलिए प्यारा होता है कि हमें अपनों का प्रेम और दूसरों का आदर मिलता है। जब इन दो में से एक के मिलने की आशा भी नहीं तो जीवन वृथा है। अपने मुख से भले ही प्रेम करें लेकिन वह दया होगी प्रेम नहीं।" इन शब्दों में *निहित आत्म-सम्मान की भावना के कारण ही उसे अपने सतीत्व* खण्डित जीवन से वितृष्णा हो जाती है और वह आत्महत्या का प्रयत्न तक भी कर डालती है। सतीत्व एवं आत्म-सम्मान के साथ ही सहज स्नेहमय वात्सल्य भी उसके चरित्र की प्रमुख विशेषता है। यद्यपि सतीत्व के लुट जाने के उपरान्त वह अपने बच्चे पर अपनी छाया तक नहीं पड़ने देती तो भी उसका मातृत्व मना

पास ही पूछ उठती है 'बालक बहुत दुबला हो गया होगा।" गाड़ी में जाते समय उसने बालक को दूर से देखा था 'उसने दोनों बाँहें फैला दी थीं मानो बालक को गोद में ले रही हो—और मूर्च्छित होकर गिर पड़ी थी। अपने ही शिशु के लिए नहीं अपितु किसी के शिशु के हेतु भी वह उनकी नौकरानी तक बन जाती है। अमर को अपनी कथा सुनाती हुई वह कहती है 'मैं तुमसे क्या कहूँ बाबूजी मेरे स्तनों में दूध भी उतर आया और माता को मैंने इस भार से भी मुक्त कर दिया। इसी वत्सल भावना के सहारे ही वह अपने शेष जीवन में सभी के लिए स्नेह बिखेरती चलती है। इसके अतिरिक्त जीवन के पहले मोड़ पर ही एक और भावना भी उसके चरित्र में जाग्रत हुई है जिसका कि उसके जीवन में विशेष रूप से उत्तरोत्तर विकास हुआ है। वह है समाज-मंगल की भावना। न्यायालय में वह सभी को सम्बोधित करती हुई कहती है 'यहाँ मेरी जितनी बहनें व माई हैं उन सबसे मैं यही भिक्षा माँगती हूँ कि उस समाज के उद्धार के लिए भगवान् से प्रार्थना करें जिसमें ऐसे नरपिशाच उत्पन्न होते हैं।" वस्तुतः यहीं से जड़ पकड़कर इस भावना ने भविष्य में मुन्नी को देशभक्ति का फल प्रदान किया है। इसी प्रकार जीवन के पहले मोड़ तक पहुँचते-पहुँचते मुन्नी के चरित्र में वासना का नग्न नृत्य देख लिया है समाज की यथार्थ स्थिति को पहचान लिया है और सतीत्व आत्म-सम्मान वात्सल्य वितृष्णा एवं सुधार आदि की विशेषताओं को आत्मसात् कर लिया है।

मुन्नी के चरित्र का दूसरा मोड़ उसके पति की मृत्यु से अथवा आत्महत्या के लिये किये गए प्रयास से लेकर जेल-गमन तक की विकास-यात्रा को लिये हुए है। इसे ग्रामीण-विधवा-युवती का रूप कहा जा सकता है। उसे आत्महत्या के हेतु डूबती देखकर एक चमार बचा कर अपनी रैदासों की बस्ती में ले आता है। इस छोटे-से गाँव में आकर राजपूतनी मुन्नी पूर्णतः रैदासिन मुन्नी बन चुकी है और बूढ़े चौधरी की विधवा बहू के नाम से अभिहित होती है। अतः इस रूप में उसकी सर्वप्रथम विशेषता है उसका समभाव। मुन्नी के लिए अब जातीय आधार पर मानव मानव में कोई अन्तर नहीं है। वञ्चित होने पर जिस आत्म-विस्मृति एवं सामाजिक सम्मान की सम्भावना उसे राजपूत-समाज से नहीं मिली थी इस निर्धन एवं निम्नवर्गीय समाज में उसकी पूर्ण परितृप्ति हुई है। प्रेमचन्द के शब्दों में 'यहाँ उसका आदर है मान है वह अपनी जात-पाँत भूल गई, आचार-विचार भूल गई और ऊँची जाति की ठकुराइन अछूतों के साथ अछूत बनकर आनन्दपूर्वक रहने लगी। वह घर की मालकिन थी बाहर का सारा काम वह करती भीतर की रसोई-पानी कूटना पीसना दोनों

रैदासिनियाँ करती थी। वह ब्राह्मणी न थी। चौधरी की बहू हो गई थी। वह अब सारे गाँव की मामी है और इसी में आत्म-तुष्टि भी अनुभव करती है। अपने प्राचीन सामाजिक रूप की छाया तक से भी अब कतराती है। अमर जिसने कि पूर्व कथित मुकदमे को जीतने में उसकी नैतिक सहायता की होती है जब अपनी आभिजात्य पारिवारिक परम्पराओं के कारण गृहत्याग करके भाग्यवश मुन्नी के ही गाँव में आ निकलता है तो वह उससे कहती है "तुम्हारे हाथ जोड़ती हूँ यहाँ किसी से कहना नहीं।" वस्तुतः वह समाज के एक तथाकथित ऊँचे धरातल से उतर कर नीचे आई है और उसने इस तथ्य को पहचाना है कि यहाँ की सरलता एवं प्रसन्नता वहाँ की मानमर्यादा एवं परम्पराओं से बहुत बड़ी है क्योंकि यहाँ सभी अपने हैं। वह धीरे-धीरे यह भी समझ जाती है कि यदि वास्तव में ही हमें निम्न-जातियों में कोई जागृति फैलानी है तो वह कोट-पतलून पहन कर कारों में बैठकर नहीं अपितु उस ऊँचाई से एक कदम नीचे उतर कर इनमें हिल-मिलकर ही प्रसारित की जा सकती है। ऊँचाई पर बैठकर आवाज लगा देने से कहीं बेहतर एवं वास्तविक यह होता है कि नीचे उतर कर गर्त में पड़े हुए व्यक्ति की बाँह थामकर उसे अपनी विचारभूमि तक लाया जावे। इसके लिए आवश्यकता होती है उस समभाव की जो अन्तरतम से उभरकर फूटता है उस में डूब रहे प्राणियों से नहीं। जिस प्रेरणा एवं जिस ढंग से मुन्नी सभी ग्रामीणों से मृत-गो-माँस के भक्षण की सौगंध लेती है वह उसके उदात्त समभाव को प्रकट करती है। उसके इस समभाव को उसके चरित्र के साथ चिपकाया नहीं गया है अपितु, सेवा त्याग एवं बलिदान के दृढ़ आधार पर विकसित किया गया है। गो-माँस की ओर लपकते हुए चमारों के आगे वह गर्दन टेककर कहती है "अब चलाओ गड़ासा पहला गड़ासा मेरी गर्दन पर होगा।" —यह तो हुई मुन्नी की समभावना जीवन के इस दूसरे मोड़ में उसके चरित्र की एक अन्य भावात्मक विशेषता भी अपने प्रमुख रूप से विकास की अंतिम रेखा तक पहुँची है वह है उसकी प्रेम-भावना। इतनी स्वस्थ एवं विश्वसनीय राग-भावना शायद ही प्रेमचन्द के किसी अन्य नारीपात्र में उपलब्ध होती हो। मुन्नी को अमर से प्रेम है और इस प्रेम का मूल मानव की सहज वासना में है—इस तथ्य में तो कोई सन्देह नहीं किन्तु मुन्नी का प्रेम इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है कि उसमें वासना का उदात्तीकरण है। इस प्रेम ने उसे अमर के साथ ही नहीं अपितु जीवन के साथ एक रागात्मक तार में बाँध दिया है। जीवन के प्रथम मोड़ पर जिस जीवन वितृष्णा के कारण उसने कहा था "अब मेरी आपसे यही विनती है कि मुझे हरिद्वार या किसी दूसरे तीर्थ-स्थान में

भेज दीजिए" यह विरक्ति सम्भवतः उसके लिए जीवन में और भी अधिक कुण्ठाओं की उत्पादिनी होती किन्तु अमर के रूप में एक साकार आधार को पाकर वह यौवन-स्वास्थ्य की ओर खिंची है। शारीरिक तृप्ति को वह अब तक बहुत परख चुकी है और वह शायद यह भी जानती है कि अमर अविवाहित नहीं है पर इससे उसकी धारणा में कोई अन्तर नहीं आता। उसे तो केवल इतनी चाह है कि चमारों की उस बस्ती में कोई ऐसा पहुँचा हुआ भी हो जो उसे सही रूप में अपनी समझ सके। वह अमर से बार-बार कहती है "मैं तुमसे और कुछ नहीं माँगती। बस इतना ही चाहती हूँ कि तुम मुझे अपनी समझो और यह मुन्नी ही की नहीं साधारण से असाधारणतम व्यक्ति की भी भूख होती है कि कोई उसे ठीक समझे। अमर असाधारण गुणों से युक्त होते हुए भी जब मुन्नी को अपने साथ भाग चलने को कहता है तो वह अनायास ही उसके मुँह पर हाथ रख देती है और कहती है "बस और कुछ नहीं कहना। मर्द सब एक से होते हैं। मैं क्या कहती थी तुम क्या समझ गए। मैं तुम से सगाई नहीं करूँगी तुम्हारी रखेली भी नहीं बनूँगी। तुम मुझे अपनी चेरी समझते रहो यही मेरे लिए बहुत है। इस प्रकार उसके प्रेम की परितुष्टि सेवा में निहित है। अमर को कोई कष्ट न हो कोई मानसिक दुःख न हो—यही उसका प्रेम है। अमर समाज-सेवक है। उसकी चरित्र-गरिमा के कारण मुन्नी को उसकी निरन्तर चिन्ता लगी रहती है। "तुम कहाँ जाते हो कब तक आओगे"—सेवा पर आश्रित अपनी प्रेम भावना का वह इतना अधिकार तो समझती ही है। हाँ अमर के साथ मुन्नी के मान एवं हास-परिहास को देखकर एक दो यथार्थवादी आलोचकों ने यह धारणा ग्रहण की है कि वसे तो मुन्नी अमर के हाथों में कठपुतली है किन्तु सामाजिक विवशताओं के कारण वह दबी-दबी-सी रहती है, प्रेम की किसी गहरी प्रेरणा के कारण नहीं। हमारे विचार से यह ठीक है कि मुन्नी अमर के प्रेम की कठपुतली है परन्तु इसका कारण यह है कि अमर के बड़ मान भाव के प्रभावस्वरूप वह धीरे-धीरे उसे अधिकार का नहीं अपितु अर्चना का विषय समझती जाती है मान एवं हास-परिहास वह इसलिये करती है कि अमर उसे भाभी कहता है सामाजिक विवशता नाम की कोई वस्तु उसके चरित्र के इस मोड़ में नहीं है। आत्म-सम्मान की पहले जैसी भावना ही अब भी उसमें विद्यमान है किन्तु उसने विनम्रता का कवच धारण कर रखा है। फिर भी जब पयाग व्यंग्य कसता है कि वह अमर से सगाई क्यों नहीं कर लेती तो वह विद्रोह-सी करती हुई तड़ाक से उत्तर देती है "जब मेरे मन में यह बात आ जायगी तो कोई रोक भी न सकेगा।" यदि उसका प्रेम वासना पर आधारित होता तो सम्भवतः वह

इतना निस्संकोच उत्तर न दे पाती। अपने प्रेम का सम्पूर्ण चित्र उसके सम्पूर्ण मर्यादित भावपक्षों के साथ उसके सम्मुख सर्वदा उपस्थित रहता है। अपने पत्नी-पद के आसक्ति-से छिन्न मते में जब अमर उसके प्रति उदासीनता प्रकट करता है तो वह सब कुछ नापतोल कर कहती है "तुम्हारे मन की बात समझ रही हूँ लेकिन तुम्हें भ्रम हो गया है। इस प्रकार मुन्नी का प्रेम वासनारहित ईर्ष्याविहीन एवं सेवा आदि जीवन के उच्च मूल्यों पर आधारित है। इसके बिना उसका जीवन एक शुष्क रेतीला पहाड़ बन जाता है। पति की मृत्यु के उपरान्त वह अमर से कहती है "अब मरते भी न बना किसके लिए मरती"—और अमर के रूप में उसे यही आधार मिला है, इससे अधिक नहीं। प्रेम की इस उत्सर्ग-भावना के अतिरिक्त जीवन के इसी मोड़ पर आत्म-सम्मान एवं आत्मोत्थान आदि की विशेषताओं का समाहार भी उसके चरित्र में हुआ है। व्यक्ति में परिवर्तन यदि उत्थान-दिशा की ओर नहीं होता तो मुन्नी के अनुसार वह एक हीन कोटि का जीवन होता है जिसमें मनुष्य को केवल अपने प्राणों की ही चिन्ता रहती है। वह कहती है 'प्राण उन्हें प्रिय होते हैं जो नीच हैं और नीच बने रहना चाहते हैं। जिसमें लाज है, जो किसी के सामने सिर नहीं नीचा करना चाहता वह मर भी सकता है।

इसके साथ ही एक व्यापक सहानुभूति को भी उसके चरित्र में प्रश्रय मिला है। गाँव में किसी से भी उसका विरोध नहीं है। गूदड़ चौधरी जब पिछली अवस्था में एकदम ही शराब पीना छोड़ देता है तो मुन्नी विस्मित हो जाती है और कहती है "तुम उनके (अमर के) कहने में न आओ दादा। अब छोड़ना तुम्हें अजगुन करेगा। कहीं देह में दरद होने लगे।" इस प्रकार की सहानुभूति उस गूदड़ से ही नहीं गाँव भर से ही नहीं अपितु समस्त कुचली हुई मानव-सन्तति के साथ है। यही कारण है कि उसकी जिज्ञासा समाज एवं देश की समस्याओं के प्रति बढ़ती जाती है और जितनी ही अधिक पहचान होती है उतना ही अधिक उसका व्यक्तित्व विक्षुब्ध होकर जुल्म एवं शोषण के प्रति हुंकार भर उठता है। वह सोचती है 'हाकिम संसार पर राज करता है तो क्या रैयत का दुःख-दर्द न सुनेगा?' और जब इस प्रश्न का उत्तर उसे प्रायः नकारात्मक ही मिलता है तो वह उबल पड़ती है और उस समाज में सभी को शान्तिमय देखना चाहती है। अमर को जब मुकदमों के ही [illegible] पुलिस इन्स्पेक्टर ले जा रही होती है तो मुन्नी से नहीं रहा जाता वह चिल्ला उठती है "इतने जने खड़े ताकते क्या हो? छुड़ा लो मोटर से।" शोषण के प्रति विद्रोह का यह धीमा स्वर ही आगे चलकर उसकी देशभक्ति की भावना में प्राण भरता रहता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि मुन्नी के चरित्र के इस दूसरे मोड़ पर समभाव प्रेम त्याग सेवा आत्म-सम्मान आत्मोत्थान व्यापक सहानुभूति एवं किसी सीमा तक विद्रोह आदि विशेषताओं का प्राधान्य है। ये विशेषताएँ उसके चरित्र के पहले मोड़ की ही विशेषताओं का परिस्थिति-सापेक्ष विकास हैं एक आकस्मिक तथा अस्वाभाविक स्फुरण नहीं। वहाँ का सतीत्व यहाँ पावन प्रेम की ओर मुड़ गया है आत्म-सम्मान विद्रोह की ओर उन्मुख हो गया है जीवन की वितृष्णा का त्याग बलिदान एवं सेवा की पहचान हो गई है वहाँ का वात्सल्य यहाँ के समभाव म परिणत हो गया है और वहाँ की समाज-संयम की भावना आत्मोत्थान एव व्यापक सहानुभूतिमयी सक्रियता की ओर अग्रसर हो गई है। तथापि इन सभी विशेषताओं में कोई निश्चित विभाजक रेखा नही खींची जा सकती। ये सभी एक-दूसरी की परस्पर-पूर्ति हैं क्योंकि मानवता का तन्तु इन सब म प्रमुख रूप से अनुस्यूत है।

मुन्नी के चरित्र का तीसरा मोड़ महन्तजी के शुष्क व्यवहार से आरम्भ होता है और उसकी सम्पूर्ण जेल-यात्रा तक के विकास को समेट लेता है। इसे मुन्नी का देशसेविका रूप कहा जा सकता है। इस रूप मे उसके चरित्र की सर्वप्रमुख विशेषता है देशभक्ति और अन्याय के प्रति असहनशीलता त्याग की भरपूर भावना देशीय समस्याओं के प्रति जागरूकता सत्यनिष्ठा एवं त्याग तप सेवा आदि अन्य चारित्रिक विशेषताओं का चित्रण इसी की परिपूर्ति के हेतु हुआ है। निर्धन समाज के सम्पर्क में आकर तथा अमर से महती प्रेरणा लेकर मुन्नी देशभक्ति की ओर उन्मुख होती है। सामाजिक समस्याओं को अब वह पूर्णरूपेण समझती है। वह कहती है "किसे देखो गरीबों का ही रक्त चूसने को तैयार है। हम जमा करने को नहीं माँगते न हमें भोग-विलास की इच्छा है लेकिन पेट की रोटी और तन ढाँपने को कपड़ा तो चाहिये।" इस समस्या क सुलझाव का सर्वप्रथम साधन उसके पास यही है कि अपने अहं को उस स्तर तक विकसित किया जाए जहाँ पहुँचकर वह निरीह एवं उदासीन भाव स अन्याय को सहन न कर सके। इसीलिये मुन्नी का अहं यहाँ अत्यन्त जागृत है। जेल म चौकीदारिन तक की डाँट-डपट को सहन न करती हुई वह कहती है "हाँ रानी बनकर आई हूँ। किसी की चाकरी करना मेरा काम नहीं है भलमनसी से कहोगी तो मैं तुम्हारे भंगी के घर में झाड़ू लगा दूँगी लेकिन मार का भय दिखाकर तुम मुझसे राजा के घर में भी झाड़ू नहीं लगवा सकती। इतना समझ रखो। मुन्नी समझती है कि इस व्यापक आत्म-सम्मान के साथ ही व्यक्ति के चरित्र में त्याग तप तथा सेवा की

)

गरिमा भी होनी चाहिये। सुखदा से वह कारावास में कहती है "भगवान् तुम्हारा मनोरथ पूरा करें बहूजी। यदि मसनद लगाने वाली रानियाँ अब तपस्या करने लगीं तो भगवान् वरदान भी जल्दी ही देंगे।"

देशभक्ति तो ऐसा गुण है जिसका उभार *परिस्थिति-सापेक्ष* होता है। जिस प्रकार विशाल सागर की तरल ज्वार भाटे के उपरान्त पुनः प्रतिक्षुब्ध एवं प्रशान्त-सी लगती है उसी प्रकार देशभक्ति अथवा समाजभक्ति की लहर भी सामयिक हुआ करती है। अतः मुन्नी भी कारावास के जीवन के उपरान्त पुनः अपने व्यक्तिगत जीवन में प्रवेश करती है किन्तु वहाँ वह जीवन को और भी अधिक सुनसान एवं वेदनामय पाती है। अमर को अपनी पत्नी सुखदा मिल गई है मुन्नी अब उसके लिए सराहनीय भले ही हो सांसारिक अथवा *दाम्पत्य-जीवन में महत्त्वहीन है—पहले वह उसे 'भाभी' कहता था अब 'मुन्नी बहन'* कहता है तरह-तरह के नाम बनाकर जैसे उससे अलग हो गया है। मुन्नी को तो सराहना से कहीं अधिक आत्मीयता की आवश्यकता है किन्तु जब वही आधार उसे *खिसकता हुआ दिखाई पड़ता है तो वह अपने आपको* वेदना की गहन तमिस्रा में जीवन-सागर के किनारे पर खामोश खड़ी हुई पाती है—निस्सहाय निपट अकेली "अभय विरक्त-भाव से सिर झुकाये खड़ी है।" पर नहीं यहीं से मुन्नी के जीवन में एक नीचा और सर्वश्रेष्ठ मोड़ आ जाता है जिसकी ओर इंगित करके ही प्रेमचन्द ने छोड़ दिया है और वही उसकी चरित्र-ध्वनि है। कौन कहता है कि मुन्नी अकेली है और जो पक्षी उसकी मुँडेर पर आकर बैठ गया था वह आत्मघपामी होने के नाते उसकी *झुग्गियों के पानी से कहीं अतृप्त हुए बहककर चला गया है? नहीं* वह अकेली नहीं है जीवन की स्मृतियाँ उसकी अपनी हैं पति की याद उसकी अपनी है—वेदना उसकी अपनी है। जीवन का उसने कौन सा रूप नहीं देखा? पत्नी रूप में शारीरिक सुख भोगा है, विधवा रूप में पवित्र प्रेम के दर्शन किये हैं बन्दिनी रूप में समाज को परखा है—ऐसा है ही क्या जो उसने नहीं देखा है। कोई अपना? नहीं अब सभी उसके अपने हैं। उसकी धड़कन अब जननेतृत्व की प्रत्येक आवाज पर साज बन जाया करेगी।

धनिया

होरी किसान की पत्नी धनिया प्रेमचन्द के दलित-समाज विषयक सम्पूर्ण आत्म-मंथन की मूल संवेदना है जिसका प्रेमचन्द-साहित्य में उत्तरोत्तर मानो रूप होता रहा है और जो निजी सजीवता तीव्रता विक्षुब्धता एवं व्यापकता

की सर्वोत्कृष्टता के कारण अमर हो गई है। उसके चरित्र में ऐसा कुछ है जो सुमित्रा, निर्मला एवं मुन्नी आदि में बिखरा तो पड़ा है पर अब 'गोदान' में एकत्रित होकर बोल ही नहीं उठा अपितु अनुकरणीय मार्ग की विकास रेखाओं पर अग्रसर भी हुआ है। इस दृष्टि से धनिया प्रेमचन्द की अद्वितीय चरित्र समझा है।

धनिया जीवन में सब कुछ सह सकती है पर अन्याय नहीं। अन्याय के प्रति विद्रोह का स्वर ही उसके चरित्र की महत्त्वपूर्ण विशेषता है। धर्म-नीति पर आधारित आज की जिस सामाजिक व्यवस्था के प्रभावस्वरूप 'प्रेमाश्रम' की विलासी गायत्री ही थी, 'पूस की रात' की मुन्नी अज्ञानी ही रह गई, 'संग्राम' (नाटक) की राजेश्वरी बहकती रही और 'कर्मभूमि' की मुन्नी भी निरीश्वर आचार के लिए भटकती ही रही—धनिया उसके प्रति प्रतिवादात्मक एवं तथा कथित सहनशीलता की उपेक्षा कर आखिरी साँस तक जूझती रही है। विद्रोह का दुराग्रह लेकर तो वह कभी नहीं चली, किन्तु उसके अन्तस्तल में एक गहरा असन्तोष विद्यमान है जो स्वतः ही उबल पड़ा है। 'अपने विवाहित जीवन के इन बीस वर्षों में उसे अच्छी तरह अनुभव हो गया था कि चाहे कितनी ही कतर-ब्योंत करो, कितना ही पेट-तन काटो, चाहे एक-एक कौड़ी को दाँत से पकड़ो, मगर लगान बेबाक होना मुश्किल है। फिर भी वह हार न मानती थी और इस विषय पर स्त्री-पुरुष में आये दिन संग्राम छिड़ा रहता था। उसकी छः सन्तानों में अब केवल तीन जिन्दा हैं, तीन लड़के बचपन ही में मर गए। उसका मन आज भी कहता था अगर उनकी दवा-दारू होती तो वे बच जाते, पर वह एक धेले की दवा भी न मँगवा सकी थी। उसकी ही कौन अभी उम्र थी। छत्तीसवाँ ही साल तो था, पर सारे बाल पक गए थे, चेहरे पर झुर्रियाँ पड़ गई थीं। सारी देह ढल गई थी, वह सुन्दर गेहुँआ रंग साँवला हो गया था और आँखों से भी कम सूझने लगा था। पेट की चिन्ता ही के कारण तो। कभी तो जीवन का सुख न मिला। इस चिरस्थायी जीर्णावस्था ने उसके आत्मसम्मान को उदासीनता का रूप दे दिया था। जिस गृहस्थी में पेट को रोटियाँ भी न मिलें, उसके लिए इतनी खुशामद क्यों? इस परिस्थिति में उसका मन बराबर विद्रोह किया करता था और दो-चार घुड़कियाँ खा लेने पर ही उसे यथार्थ का ज्ञान होता था।' —प्रेमचन्द के शब्दों में यह है धनिया के मन का असन्तोष। यही असन्तोष धीरे-धीरे उसके चरित्र में समाज-व्यवस्था के प्रति वितृष्णा का रूप धारण कर लेता है। उसे वितृष्णा है उस समाज-व्यवस्था से जिसमें धार्मिक आदर्श विद्यमान हैं किन्तु उसे घृणा है उस समाज

से जो अन्ध रूढ़ियों एवं परम्पराओं के कारण मनुष्य की व्यक्तिगत गरिमा को कुचल डालता है, अपने कठोर नियन्त्रण में उसे विकसित होने का अवसर तक नहीं देता—जो समाज व्यक्ति के प्रति चिन्तित होने का दम तो भरता है किन्तु प्रत्येक इकाई की परवाह नहीं करता, उसे समझने का कष्ट तक नहीं करता। कुल प्रतिष्ठा, ऊँच-नीच एवं जाति भेद की प्राचीरों को जो समाज रक्त की नींव पर खड़ी करना चाहता है उसका तो आधार ही संहारात्मक है। लेकिन निर्माण का पथ तो आडम्बरों से रहित होता है। अतः धनिया महसूस करती है कि परम्परा की रक्षा से प्रथम एक मानव की रक्षा को स्थान मिलना चाहिए। वह तीव्र शब्दों में कहती है, "हमको कुल प्रतिष्ठा इतनी प्यारी नहीं है महाराज कि उसके पीछे एक जीव की हत्या कर डालते। ब्याहता न सही, पर उसकी बाँह तो पकड़ी है मेरे बेटे ने ही। किस मुँह से निकाल देती। वही काम बड़े-बड़े करते हैं, मुदा उनसे कोई नहीं बोलता, उन्हें कलंक ही नहीं लगता। वही काम छोटे आदमी करते हैं तो उनकी मरजाद बिगड़ जाती है, नाक कट जाती है। बड़े आदमियों को अपनी नाक दूसरों की जान से प्यारी होगी, हमें तो अपनी नाक इतनी प्यारी नहीं।" धनिया को ऐसे समाज से भी नफरत है जिसमें गुप्त रूपेण पापाचार को प्रोत्साहित किया जाता है किन्तु पापी से तीव्र घृणा की जाती है और इतना ही नहीं यदि कोई उठा हुआ हाथ स्वयं झुककर गिरे हुए को थामना चाहता है तो उसकी तथाकथित शुद्धि के हेतु विविध दण्डों, प्रताडनाओं एवं प्रायश्चित्तों का विधान किया जाता है जो उसकी भी कमर तोड़ डालते हैं। समाज को निर्णय का अधिकार है किन्तु वह निर्णय परिस्थिति सापेक्ष, निष्पक्ष एवं निरीह होना चाहिए, विभिन्न स्वार्थों पर आधारित नहीं। उसमें पापों के निराकरण की क्षमता होनी चाहिए, पापी के तिरस्कार मात्र की नहीं। धनिया देखती है कि इस दृष्टि से तो नारी के और भी अधिक पददलित होने की सम्भावना है। पुरुष किसी की बाँह पकड़कर वासना तृप्ति के उपरान्त मुँह में कालिख लगाकर भाग सकता है पर नारी? और फिर ऐसा समाज? "इस कल्पना से ही जैसे धनिया सिहर उठती है और घनश्याम झा उसके द्वारा झुनिया एवं सिलिया को शरण देने के हेतु रूठ जाते हैं—"वही साध्वी जिसने होरी के सिवा किसी पुरुष को आँख भरकर देखा भी न था, इस पापिष्ठा का मानो यथार्थ उसके आँसू पोंछ रही थी और उसके त्रस्त हृदय को अपने कोमल शब्दों से शान्त कर रही थी जैसे कोई चिड़िया अपने बच्चे को परों में छिपाये बैठी हो।" वह सभी को सुना-सुनाकर कहती है, "मुझ से इतना बड़ा जरीबाना इसलिये लिया जा रहा है कि मैंने अपनी बहू को क्या

अपने घर में रखा। क्यों उसे घर से निकालकर सड़क की भिखारिन नहीं बना दिया। यही न्याय है, ऐं ? मैं न एक दाना अनाज दूँगी न एक कौड़ी डाँड़ हमें नहीं रहना है बिरादरी में। बिरादरी में रहकर हमारी मुकुत न हो जायेगी। अब भी अपने पसीने की कमाई खाते हैं तब भी अपने पसीने की कमाई खायेंगे।" धनिया का वश चले तो वह गरीबों का रक्त चूसने वाले घूसखोर सरकारी कर्मचारियों एवं सामाजिक ठेकेदारों को गोली से उड़ा दे। जिस झूठी इज्जत की रक्षा के हेतु निम्नवर्गीय कृषक घूसखोरी को बढ़ावा देते हैं उसे भी वह हेय समझती है। गाय उस गरीब की मरी है तलाशी भी उसी के घर की होने को जा रही है और तिस पर उसका पति है कि भुगतना चाहता है। वह घर की इज्जत की रक्षा के हेतु दारोगा से कहती है "हाँ दे दिया। अपनी गाय थी मार डाली फिर ? किसी दूसरे का जानवर तो नहीं मारा। तुम्हारे तहकीकात में यही निकलता है तो यही लिखो। पहना दो मेरे हाथ में हथकड़ियाँ। देख लिया तुम्हारा न्याय और तुम्हारे अक्कल की दौड़। गरीबों का गला काटना दूसरी बात है। दूध का दूध और पानी का पानी करना दूसरी बात"। धनिया का विद्रोह पति के अन्याय के प्रति पत्नी का विद्रोह भी है। गोबर उसका अपना बेटा है। साधारण माँ इकलौते पुत्र के गुनाहों पर आवरण ही डाला करती है। किन्तु पति-धर्म में जब वह भी असफल रहता है तो धनिया उसका दोष झुनिया के माथे नहीं मढ़ती। उसकी दुर्दशा को वह पति का अन्याय ही समझती है। अपने पति तक को वह सुना देती है "बड़ा वीर है तो किसी मर्द से लड़। जिसकी बाँह पकड़कर लाया है उसे मारकर बहादुर न कहलायेगा। तू समझता होगा मैं इसे रोटी-कपड़ा देता हूँ। आज से अपना घर सँभाल। देख तो इसी गाँव में तेरी छाती पर मूँग दलकर रहती हूँ कि नहीं और इससे अच्छा खाऊँगी पहनूँगी। इच्छा हो देख ले"। धनिया का विद्रोह उस पारिवारिक अन्याय के प्रति भी है जिसमें एक भाई दूसरे के प्राणों का ग्राहक हो और दूसरा चुपचाप पहले की बातों को शिरोधार्य मानता जाये। उसके अनुसार आज का युग तो जीने का अधिकार ही तभी देता है जब ईंट का जवाब फूल से नहीं पत्थर से दिया जाय। इसके बिना आत्म-सम्मान की रक्षा सम्भव नहीं है। जो देवर उसके पति के शत्रु हैं वह उन्हें कभी क्षमा नहीं कर सकती। पति से कहती है वह "मैंने तुमसे सौ बार हजार बार कह दिया मेरे मुँह पर भाइयों का बखान न किया करो उनका नाम सुनकर मेरी देह में आग लग जाती है। सारा गाँव देखने आया उन्हीं के पाँव में मेंहदी लगी हुई थी मगर आयें कैसे ? जलन हो रही होगी कि इसके घर गाय आ गई। छाती फटी

वाली होगी'। पुत्र तक के अन्याय को धनिया विस्मृत नहीं कर पाती। 'एक दिन होरी ने गोबर के पास दो-तीन दिन के लिए जाने का प्रस्ताव किया। मगर धनिया अभी तक गोबर के कठोर शब्द न भूली थी। वह गोबर से एक पैसा भी न लेना चाहती थी। —यथेष्ट यही है धनिया का विद्रोही रूप। जैसा कि हम पहले कह चुके हैं इसके स्वरूप की खोज मतवादों में नहीं करनी चाहिये। वस्तुतः धनिया का विद्रोह मार्क्स आदि से प्रेरित अनुप्रेरित न होकर बहुत कुछ मानवतावादी है। उसके चरित्र में इसका मूल है कुण्ठित आत्म सम्मान जिसने निरन्तर अपनी अभिव्यक्ति एवं कार्यान्विति का अवसर ढूंढा है। यही कारण है कि धनिया की प्रशंसा करके कोई भी मतलब ऐंठ सकता है। भोला द्वारा 'ऐसी लक्ष्मी ऐसी सलीकेदार' आदि विशेषणों को सुनकर वह फूली नहीं समाती। अन्याय के प्रति धनिया की सम्पूर्ण विद्रोह भावना में आत्म-सम्मान की तीव्र भूख निहित है। जीवन संघर्षों ने अन्याय ने उसकी कमर तोड़ डाली है पर वह अन्याय के आगे नहीं झुकी—यद्यपि यह भी सत्य है कि अन्याय उसकी प्राण-शक्ति पर आखिरी दम तक चोट करता रहा है। धनिया ने हार नहीं मानी पर इसका यह तात्पर्य नहीं कि उसने जीवन में झुकना सीखा ही नहीं। उसका कहना है 'ईंट का जवाब चाहे पत्थर हो लेकिन सलाम का जवाब तो गाली नहीं है।' उसने झुकना चाहा है लेकिन सम्मान सहित अन्यथा प्रेमचन्द के शब्दों में 'स्त्री-पुरुष दोनों बैठे समाज को झुठौती दे रहे हैं कि देखें कोई उनका क्या कर लेता है' और उधर 'समाज भी दिखा देगा कि उसकी मर्यादा तोड़ने वाले सुख की नींद नहीं सो सकते।' इन दोनों के संघर्ष में प्रेमचन्द यह भी दिखाना चाहते हैं कि जब तक समाज को व्यक्ति का और व्यक्ति को समाज का ध्यान नहीं है, तब तक समस्या का कोई भी सुनिश्चित सीधा समाधान सम्भव नहीं है।

धनिया के चरित्र की दूसरी प्रमुख विशेषता यह है कि जहाँ वह बाह्य दृष्टि से अपने पति की रीढ़ की हड्डी है वहाँ आन्तरिक दृष्टि से उसकी दुखती हुई आत्मा भी है। कहा जा सकता है कि धनिया होरी के विक्षुब्ध अन्तर का रुदन है। होरी के व्यक्तित्व की सबसे बड़ी पूँजी—ईमानदारी सरलता एवं सहनशीलता तथा उदारता आदि गुण—धनिया ही का व्यावहारिक समाज सापेक्ष एवं मर्यादित रूप है। होरी यदि शोषित वर्ग का प्रतिनिधित्व करता हुआ दिन रात मर कर जीवन के प्रत्येक मोड़ पर समझौता करने को झुक जाता है तो धनिया उस शोषित वर्ग के अन्तर्मन की क्रान्ति है जो सब कुछ कर सकने की सामर्थ्य रखती हुई भी जीवन की विषमताओं को पराजित नहीं कर

पाती। यही कारण है कि होरी और धनिया के दाम्पत्य में एक अनुपम सामंजस्य है। पत्नी की दृष्टि से धनिया होरी की प्रेरणा है सम्पूर्ति है—सर्वस्व है और उसे जीवन-सर्वस्व मानकर चलती है। इसी से धनिया के दाम्पत्य में सरसता और माधुर्य से ओतप्रोत एक सजीवता विद्यमान है। यह ठीक है कि धनिया ने व्यक्तिगत जीवन में निरन्तर अभावों का ही मुँह देखा है और भाग्य की विडम्बनाओं को ही सहा है किन्तु होरी जैसे पति को पाकर जैसे वह सब कुछ विस्मृत कर देना चाहती है। होरी ने उसको पीटा भी है बुरा-भला भी कहा है किन्तु उसके बीमार होते ही वह मान का अधिक प्रदर्शन नहीं कर सकी है। होरी उसका बहुमूल्य एवं दुर्लभ 'हीरा' है। वह बिना खाये कहीं बाहर जाने लगता है तो धनिया कहती है "अरे कुछ रसपानी तो कर लो ऐसी जल्दी क्या है ?" और जब मजाक-मजाक में ही होरी अपनी मनोव्यथा को दबाता हुआ कहता है 'साठे तक पहुँचने की नौबत न आने पायेगी धनिया! उसके पहले ही चल देंगे" तो धनिया की सम्पूर्ण रागात्मक अनुभूतियाँ जैसे एक साथ ही भनभना उठती हैं। 'अच्छा रहने दो मत अशुभ मुँह से निकालो। तुमसे कोई अच्छी बात भी कहे तो लगते हो कोसने' —उस के मुँह से अनायास ही निकल जाता है। 'होरी लाठी कन्धे पर रखकर घर से निकला तो धनिया द्वार पर खड़ी उसे देर तक देखती रही। उसके इन निराशा भरे शब्दों ने धनिया के चोट खाये हुए हृदय में आतंकमय कम्पन-सा डाल दिया था। वह जैसे अपने नारीत्व के सम्पूर्ण तप और व्रत से अपने पति को अभयदान दे रही थी। उसके अन्तःकरण से जैसे आशीर्वादों का व्यूह-सा निकलकर होरी को अपने अन्दर छिपाये लेता था। विपन्नता के इस अथाह सागर में सोहाग ही वह तृण था जिसे पकड़े हुए वह सागर को पार कर रही थी। इसीलिये तो धनिया सतीत्व को नारी की एकमात्र सम्पदा समझती है। भोला की पत्नी सतीत्व से भ्रष्ट हो जाती है तो धनिया कहती है भोला को 'अब तो तुम्हारा धर्म यही है कि गंड़ासे से उसका सिर काट लो। फाँसी ही तो पाओगे। फाँसी इस हीआ़बजर से अच्छी है। और सच ही होरी को अन्तिम साँस लेते देखकर धनिया को लगता है जैसे उसके जीवन और सतीत्व का आधार खिसकता जा रहा है। 'अब वह दिल को और कितना कठोर करे ? अपने पति के प्रति उसका जो कर्म है क्या वह उसको बताना पड़ेगा ? जो जीवन का संगी था उसके नाम को रोना ही क्या उसका धर्म है ? और ई आवाज आयी—गोदान करा दो अब यही समय है। धनिया यन्त्र भाँति उठी आज जो सुतली बेची थी उसके बीस आने पैसे लायी और

पति के ठण्डे हाथ में रखकर सामने खड़े दातादीन से बोली—'महाराज घर में न गाय है न बछिया न पैसा। यही पैसे हैं यही इनका गोदान है।' और पछाड़ खाकर गिर पड़ी। जब जीवन-साथी ही नहीं रहा तो धनिया भी रह कर क्या करे? किसके लिए जिये? जीवन भर उसने पति का साथ दिया है मृत्यु को प्रत्यक्ष देख कर वह कैसे पीछे हट जाय।—यही है धनिया का अमर पत्नीत्व। वह भले ही अनपढ़ गँवारिन है किन्तु आज पढ़ी-लिखियों को पत्नीत्व का पाठ पढ़ा सकती है।

गृहिणी अथवा गृहस्वामिन रूप में भी धनिया का चरित्र महत्त्वपूर्ण एवं ग्रामीण जीवन की आदर्श स्वाभाविकता का प्रतिनिधित्व करता है। इस रूप में उसकी सर्वप्रथम विशेषता है सहनशीलता। अन्याय के प्रति वह जितनी ही असहनशील है गार्हस्थ्य विवशताओं को वह उतने ही धैर्य से झेलती भी है। वह घर की मालकिन अवश्य है किन्तु होरी के शब्दों में 'इस मालिकपन में गोबर की माँ की जो दुर्गति हुई है वह मैं ही जानता हूँ। बेचारी अपनी देवरानियों के फटे-पुराने कपड़े पहनकर दिन काटती थी खुद भूखी सो रही होगी लेकिन बहुओं के लिए जलपान तक का ध्यान रखती थी। अपनी देह पर गहने के नाम कच्चा धागा भी न था देवरानियों के लिए दो-दो चार-चार गहने बनवा दिये।" होरी के भाइयों को कभी चलन थी कि उनकी घरवाली हार में काम करने क्यों नहीं जाती। आज उनसे अलग्योझा कर लेने पर भी होरी का बड़ा भाई तो धनिया से यही कहता—'घर बैठो, घर देखने वाला भी कोई चाहिए कि नहीं। लेना-देना धरना उठाना सँभालना-सहेजना यह कौन करे।' किन्तु आज तो धनिया को घर से बाहर खेतों में भी काम करना पड़ता है मजदूरी पर जीना पड़ता है। धनिया और तीनों लड़कियाँ ऊख के बड़े लिये गीली साड़ियों में लथपथ कीचड़ में सनी हुई आती हैं और पट्ठू पटक कर दम मारने ही लगती हैं कि दातादीन की टाँग सिर पर सवार हो जाती है गृहस्थी के संचालन के हेतु यह भी करना पड़ता है धनिया को। घर से बाहर यह सक्रियता भी धनिया के गृहिणी रूप की विशेषता है। तिस पर भी जब होरी का हाथ बतलाने भी उसके साथ अन्याय कर बैठता है तो वह रोती है और मानती है—"इस घर में उसने आकर क्या नहीं झेला किस-किस तरह पेट तन नहीं काटा किस तरह एक-एक लत्ते को तरसी किस तरह एक-एक पैसा प्राणों की तरह जोड़ा किस तरह घर भर को खिलाकर आप पानी पीकर सो रही और आज इन सब बलिदानों का यह पुरस्कार।" त्याग भी इस प्रकार धनिया के गार्हस्थ्य रूप की विशेषता है। संघर्षों के अनवरत प्रहारों से प्रताड़ित व्यक्ति

प्रायः ईश्वरोन्मुखी हुआ करते हैं। गृहिणी-रूप में धनिया भी नास्तिक नहीं है। बिना यह कहे कि 'भगवान् बैठे यह सब अन्याय देख रहे हैं और उनकी रक्षा को नहीं दौड़ते। गज और द्रोपदी की रक्षा करने बैकुण्ठ से दौड़े थे आज क्यों नींद में सोये हुए हैं' वह कैसे सन्तोष धारण कर सकती है। साथ ही धनिया एक ग्रामीण गृहिणी की भाँति कुछेक परम्परागत आशंका-मूलक अन्धविश्वासों में भी आस्था रखती है। वह आकाश की ओर देखकर बोलती है—"गाय के आने का आनन्द तो तब है कि उसका पौरा भी अच्छा हो। भगवान् के मन की बात है।' वह गाय को सात परदों के अन्दर छिपाकर रखना चाहती है उसे डर है कि किसी की कुदृष्टि न लग जावे। स्वयं अभी उसने दूध दुहा नहीं किन्तु दातादीन को कहती है 'अरे नहीं महाराज इतना दूध कहाँ कुनिया तो हो गई है। फिर यहाँ रातिब कहाँ धरा है। इसके अतिरिक्त गृहिणी धनिया की एक अन्य विशेषता भी है। आत्म प्रशंसा की स्वाभाविक इच्छा के होते हुए भी वह आतिथ्य-सत्कार में विश्वास रखती है। इस दृष्टि से उसका गार्हस्थ्य रूप स्वार्थ पर आधित एवं संकुचित नहीं है। वह गोबर को समझाती है 'आदमी द्वार पर बैठा है उसके लिए खाट-वाट तो डाल नहीं दी ऊपर से लगे भुनभुनाने। कुछ तो भलमंसी सीखो।

धनिया के चरित्र का एक असाधारण एवं सर्वसराहनीय मौलिक पक्ष भी है—वह है उसकी मानवीय एवं व्यापक सहानुभूति। साधारण पत्नी जहाँ निजी सगे-सम्बन्धियों को भी दूर-दूर से ही देखना चाहती है वहाँ धनिया के घर में तो उन भाग्य प्रवञ्चिताओं के लिए भी प्रचुर स्थान है जिन्हें समाज पतिताओं की संज्ञा देता है। झुनिया एवं सिलिया के प्रति उसका व्यवहार इसी महामान्य उदारता का परिचायक है। विधवा झुनिया को उसके पुत्र गोबर द्वारा गर्भ रह जाता है। धनिया इस आदर्शहीनता को अपने घर आई देखकर पहले तो उत्तेजित हो जाती है किन्तु परिस्थिति पर ठण्डे मन से विचार करने पर वह होरी से इतना ही नहीं कहती 'तुम्हें मेरी सौंह उस पर हाथ न उठाना वह तो आप ही रो रही है' अपितु झुनिया को विवाहिता बहू की भाँति रखती है और जब झुनिया का पिता उसे निकाल देने को कहता है तो धनिया पत्थर की लकीर खींचती हुई कहती है "तो महतो मेरी भी सुन लो। जो बात तुम चाहते हो वह नहीं होगी सौ जनम न होगी। झुनिया हमारी जान के साथ है। तुम जैसे ही तो न जाने को कहते हो मैं जानो अगर इससे तुम्हारी कटी हुई नाक जुड़ती हो तो जोड़ लो पुरखों की आबरू बचती हो तो बचा लो। झुनिया से बुराई जरूर हुई। जिस दिन उसने मेरे घर

में पाँव रखा, मैं झाड़ू लेकर मारने उठी थी' लेकिन अब उसकी आँखों में भर भर आँसू बहने लगे तो मुझे उस पर दया आ गयी। तुम अब बूढ़े हो गये महतो। पर आज भी तुम्हें सफाई की धुन सवार है फिर वह तो अभी बच्ची है। और धनिया महतो से ही नहीं समाज भर से टक्कर लेती है झुनिया की रक्षा के हेतु। ऐसा ही व्यवहार उसका सिलिया के प्रति है। झुनिया तो असा उसके बेटे की बहू समझती थी। परन्तु सिलिया चमारिन से तो मानवता के अतिरिक्त उसका कोई ऐसा नाता भी नहीं है। दातादीन के बेटे मातादीन द्वारा जब उसके धर्म रह जाता है मातादीन उसे ठोकर मार देता है और चमारों की बिरादरी तक जब उसका बहिष्कार कर देती है तो धनिया ही है जो उसका हाथ थामकर और दयार्द्र होकर कहती है "जगह की कौन कमी है बेटी! तू चल मेरे घर रह"। इतना ही नहीं वह उसकी शारीरिक दशा को देखती हुई उसके हिस्से का काम भी स्वयं करती है। उसका सहज स्नेहमय मातृत्व जैसे किसी भी पीड़िता को देखकर उमड़ आता है और उसके हाथ सहायतार्थ कुछ करने को मचल उठते हैं। यहाँ तक कि वह अपनी उस देवरानी पुनिया के प्रति भी अत्यन्त सहानुभूतिपूर्वक व्यवहार करने लगती है—जिसके पति ने उसकी गाय को जहर देकर मार डाला था और उसकी तथा उसके पति की और अवहेलना की थी। किसी की मतमसलत को झुनिया असम्य नहीं समझती।

यह तो था धनिया का व्यापक मातृत्व किन्तु उसका एक निजी मातृत्व है जहाँ वह केवल तीन संतानों की माँ है। इस दृष्टि से धनिया एक सहज वत्सला एवं त्यागमयी जननी है। गोबर परदेश से घर आता है तो धनिया "उसका सिर अपनी छाती से लगाकर मानो अपने मातृत्व का पुरस्कार पा गयी। उसका हृदय गर्व से उमड़ा पड़ता था। आज तो वह रानी है। इन फटे हाल - भी रानी है। कोई उसका मुख देखे उसकी आँखें देखे उसका हृदय देखे सच्ची बात देखे। रानी भी लजा जायेगी। और जब गोबर रूठ कर चला जाता है तो प्रेमचन्द लिखते हैं "धनिया बैठी रो रही थी जैसे कोई उसके हृदय को आरे से चीर रहा हो। उसका मातृत्व उस घर के समान हो रहा था जिस में आग लग गई हो और सब कुछ भस्म हो गया हो। बैठकर रोने के लिए भी स्थान न बचा हो।" पुत्र तथा बहू के चले जाने पर "धनिया को बार-बार मुन्नू की याद आती रहती है। बच्चे की माँ तो झुनिया थी पर उसका पालन धनिया ही करती थी वात्सल्य का यह अथाह ही उसकी विपत्ति को भुलाता रहता था। जीवन भर धनिया को बच्चों को डाँट लगाते हुए किसी ने नहीं सुना हाथ उठाते हुए किसी ने नहीं देखा। इतना सब होने पर भी धनिया के वात्सल्य

अथवा मातृत्व की विशेषता यह है कि वह उसके पत्नीत्व का साधन बनकर आया है। मातृत्व की वृत्तियों को चित्त से निकाल फेंकना तो असम्भव है किन्तु यह सच है कि व्यावहारिक रूप में धनिया ने उस वात्सल्य को दबा डालना ही उचित समझा है जो उसके पत्नीत्व अथवा दाम्पत्य भाव के सामरस्य में विघ्न डालता हो। वह पहले पत्नी है फिर जननी है और उसके उपरान्त मानवी है।

धनिया के चरित्र का एक ऐसा पक्ष भी है जो स्वयं उसकी ग्लानि का कारण है किन्तु जिस पर उसका कोई वश भी नहीं है। जीवन की विवशताओं ने उसे इस प्रकार दबोच रखा है कि कई बार उसे दूसरे की सहानुभूति पर जीना पड़ता है। घर में खाने को कुछ नहीं है, वह स्वयं तो खाली पेट रह सकती है किन्तु परिवार के अन्य सदस्यों की दशा देखकर अपनी देवरानी द्वारा सहायतार्थ लाये गए अनाज को भी उसे ग्रहण करना पड़ता है। प्रेमचन्द के शब्दों में 'धनिया ने अनाज तो रख लिया पर मन में लज्जित और अपमानित हो रही थी।' इसी परिस्थिति का सामना उसे अपनी पुत्री सोना के विवाह में भी करना पड़ता है। पति से सरोष कहती है 'साफ-साफ क्यों नहीं बोलते कि लड़की को बेचने को कहते हो' और उसका वश चलता तो वह अपनी लड़की को किसी राजा को सौंपती किन्तु यहाँ भी उसे पराजित होना पड़ता है—यही सोचकर सन्तोष करना पड़ता है कि अधेड़ आयु के मनुष्य के साथ ही सही आगे-पीछे घर में तो जा रही है। आर्थिक दृष्टि से वह कितनी पराधीन है—मरते दम तक वह इस तथ्य को झुठला नहीं सकी।

कुल मिलाकर जीवन के प्रत्येक क्षण में धनिया ने परिस्थितियों से जूझने का भरसक प्रयत्न किया है और व्यक्तिगत क्षेत्र में वह उनसे कहीं ऊपर उठी हुई है। यही कारण है कि प्रारम्भ से लेकर अन्त तक वेदनाओं से भरे हुए उसके चरित्र में एक प्राणवत्ता है जो किसी भी सहृदय की सहानुभूति को बरबस खींच लेने की सामर्थ्य रखती है। और जहाँ तक उसके चरित्र में चित्रणकला का प्रश्न है वहाँ भी हमारे विचार से ऐसी स्वाभाविकता प्रेमचन्द के किसी भी अन्य नारीपात्र में उपलब्ध नहीं होती। एक अत्यन्त सीमित क्षेत्र के भीतर जिस कौशल, जिस अनुभूति एवं जिस व्यापकता के साथ धनिया की मार्मिक अभिव्यक्ति हुई है उसकी प्रभावोत्पादकता की दृष्टि से हमें यह कहने में तनिक भी संकोच नहीं कि हिन्दी साहित्य की इस अमर-निधि के चित्रण में प्रेमचन्द पूर्णरूपेण सफल हुए हैं।

गोविन्दी देवी

'गोदान' की गोविन्दी और 'त्याग' कहानी की प्रियंवदा—इन दोनों की सृष्टि प्रेमचन्द ने पाश्चात्य नारी से भारतीय नारी की उत्कृष्टता के निमित्त की है। अतः यह स्वाभाविक ही है कि इनमें उनकी नारी भावना का आदर्श तत्वतः भरा गया हो। यहाँ हम केवल गोविन्दी देवी को ही लेंगे क्योंकि उनके चित्रण की रेखाएँ प्रियंवदा से अधिक पुष्ट हैं अतः अधिक विवेचनीय हैं।

'वह जो खद्दर की साड़ी पहने बहुत गम्भीर और विचारशील सी है'—इस प्रारम्भिक परिचय से ही आभास हो जाता है कि मिस्टर खन्ना की पत्नी गोविन्दी एक भारतीय महिला है। उनके व्यक्तित्व का अंग प्रत्यंग भारतीयता का परिचायक है। 'वह अप्सरा न हो पर रूपवती अवश्य है, गेहुआँ रंग लज्जाशील आँखें जो एक बार सामने उठकर फिर झुक जाती हैं अंग-विन्यास सुडौल गोल बाँहें मुख पर एक प्रकार की अर्थिव विनम्र गर्व की झलक सी है मानो संसार के व्यवहार और व्यापार को हेय समझती है"—इन शब्दों में निहित रूप लज्जा आत्म-सम्मान एवं अनासक्ति आदि विशेषताएँ गोविन्दी की भारतीयता की ही अभिव्यक्ति है। वस्तुतः गोविन्दी का सम्पूर्ण चरित्र एक आदर्श भारतीय परिणीता शीर्षक के अन्तर्गत अंकित किया जा सकता है। आदर्श भारतीय पत्नी की सर्वप्रमुख विशेषता होती है उसका सहनशील पति अतः पति कैसा भी हो यह माना गया है कि वह अपने को सर्वदा उसके अनुरूप ढाल लिया करती है। पति प्रणय की दृष्टि से गोविन्दी भी एक वंचित व्यक्तित्व है किन्तु 'पति सब कुछ होने पर भी खन्ना उसके सर्वस्व है। वह दलिता और अपमानिता होकर भी खन्ना की जीती है। उनसे अकेली रोयेगी पर रूठेगी उन्हीं की। उनसे पृथक जीवन की वह कोई कल्पना ही नहीं कर सकती। एक बार वह विक्षुब्ध होकर खन्ना से दूर हो जाने की कल्पना करती भी है परन्तु पुनः कर्तव्य-बन्धना के साथ लौट आ जाती है। भारतीय परिणीता की दूसरी विशेषता होती है उसकी मर्यादाशीलता तथा एक सीमित सामाजिक दायरे के भीतर ही रहना। सो गोविन्दी भी पाश्चात्य सभ्यता से रंगी हुई मालती की भाँति समाज भर की घुमक्कड़ एवं निर्बाध रूप से पुरुष समाज तथा सभा-सोसाइटियों की दीवानी नहीं है। हाँ जहाँ उसे जीवन के सत्य-पथ को उपदेश चर्चा सुनाई देती है वहाँ वह अवश्य जीवन की सार्थकता के हेतु कुछ ग्रहण करने के उद्देश्य से जाती है। मेहता की वक्तृता वह इसीलिये सुनने जाती है कि उसमें नारी के प्रति जीवन भर का संग्रह होता है। आदर्श

भारतीय नारी के मन में कभी भी यह भावना नहीं उठती कि वह पुरुष की दास है और वस्तुतः पुरुष से श्रेष्ठ है अतः उसे अपने अधिकारों की तर्जिम माँग करनी चाहिये। मेहता जब पुरुष को 'देवता' और 'अन्धकार' तथा नारी को 'देवता' और 'प्रकाश' मान कर चलते हैं तो गोविन्दी इसे नारी और पुरुष के बीच की खाई मानती हुई कहती है "भूल जाइये कि नारी श्रेष्ठ है सारी जिम्मेदारी उसी पर है, श्रेष्ठ पुरुष है और उसी पर गृहस्थी का सारा भार है। नारी में सेवा और संयम और कर्त्तव्य वही पैदा कर सकता है मगर उस में इन बातों का अभाव है तो नारी में भी अभाव रहेगा।" यह भावना और कोई नहीं भारतीय 'धर्मपत्नी' की व्याख्या मात्र है। भारतीय नारी भोग विलास को न तो जीवन का साधन और न साध्य ही मानती है। धर्म-तत्त्व भी उसकी दृष्टि में जीवन का अत्यन्त गौण तत्त्व होता है। उसके लिए तो प्रेम और कर्त्तव्य साधन तथा आत्मिक सामंजस्य जीवन-लक्ष्य होता है। पारिवारिक रूप में आर्थिक दृष्टि से पूर्णरूपेण सम्पन्न होने पर भी गोविन्दी पति प्रेम के लिए उस तृषिता की भाँति तरसती रहती है जो तृषाशान्ति के हेतु सागर-तट पर पहुँच गई हो। ऐसी दशा में वह धर्म अथवा कर्त्तव्य का अवलम्ब लेकर ही जीवन से समझौता किये रहती है। प्रेमचन्द के शब्दों में 'विलास के इस खारे सागर में वह प्यासी पड़ी रहती है' बच्चों का लालन-पालन और गृहस्थी के छोटे-मोटे काम ही उसके लिए सब कुछ है। वह उनमें इतनी व्यस्त रहती है कि भोग की ओर उसका ध्यान नहीं जाता।" आदर्श भारतीय पत्नी के सम्मुख जब परिस्थितिवश यह समस्या आ खड़ी होती है कि मैं केवल माता ही तो नहीं हूँ नारी भी तो हूँ" तो अवस्था-विचार से वह इसी निष्कर्ष पर पहुँचती है कि "नारी केवल माता है और उसके उपरान्त वह जो कुछ है वह सब मातृत्व का उपक्रम मात्र है। गोविन्दी के तो जीने का आधार ही उसकी वत्सल भावना है। अपनी सन्तान के प्रति अटूट कर्त्तव्य-बन्धनों के कारण ही वह अपना अस्तित्व बनाये रखती है। भारतीय नारी सुसंगति तथा संस्कार प्रभाव में भी विश्वास रखती है। गोविन्दी का भी यह प्रबल विश्वास है। बच्चा जब ठीक मार्ग पर आ जाता है तब वह उनसे कहती है "अब तुम्हारे लड़के आदमी बनेंगे। एक आदर्श भारतीय गृहिणी ईश्वर जीव अथवा कर्म-सिद्धांत में विश्वास रखती हुई त्याग तथा सहनशीलता को कभी भी हाथ से जाने नहीं देती क्योंकि विपत्तियों को वह तप का अवसर समझती है। गोविन्दी देवी सत्य की साक्षात् प्रतिमा है। वह पति से कहती है 'सिद्धि प्राप्त करने में अगर कोई कष्ट भी हो तो उसका स्वागत करो। तुम इसे विपत्ति समझते ही क्यों

हो ? क्यों नहीं समझते तुम्हें अन्याय से लड़ने का यह अवसर मिला है । मेरे विचार में तो पीड़क होने से पीड़ित होना कहीं श्रेष्ठ है । अपनी त्यागवृत्ति के कारण ही वह पति के दीवाले को भी विशेष महत्त्व नहीं देती धन के त्याग द्वारा आत्मा की प्राप्ति के सौदे को वह महँगा नहीं समझती । एक व्यापक सहानुभूति भी भारतीय गृहिणी की विशेषता होती है । गोविन्दी भी इससे वंचित नहीं है । मालती से उसे घृणा नहीं अपितु सुधारोन्मुखी सहानुभूति है । मजदूरों की समस्या का वह मेहता के इन्हीं शब्दों में समर्थन करती है "जो आदमी अपनी जान खपाते हैं उनका हक उन लोगों से ज्यादा है जो केवल रुपया कमाते हैं । इसके अतिरिक्त सहिष्णुता एवं क्षमा भी भारतीय नारी की निजी विशेषता है । गोविन्दी पति के यह कहने पर "हाँ प्रिये हम तबाह हो गये जिस सान्त्वना के उपचार से उसे क्षमा कर देती है वह उसकी इसी उदारता का ही सहज स्वरूप है ।

संक्षेपतः मेहता ही के शब्दों में कहा जा सकता है कि गोविन्दी देवी 'एक लखपति की पत्नी है पर विलास को तुच्छ समझती है' जो उपेक्षा और अना-दर सहकर भी अपने कर्त्तव्य से विचलित नहीं होती जो मातृत्व की वेदी पर अपने को बलिदान करती है, जिसके लिए त्याग ही सब से बड़ा अधिकार है और जो इस योग्य है कि उसकी प्रतिमा बनाकर पूजी जावे । प्रतिमा प्रस्थापन प्रायः असाधारणता के माध्यम से शिक्षा-प्रेक्षण के हेतु किया जाता है । गोविन्दी की निर्मिति भी सप्रयोजन हुई है ।

रानी सारन्धा

प्रेमचन्द के नारी-पात्रों में रानी सारन्धा का विशिष्ट स्थान है । जीवन में नारी का झुकाव प्रायः प्रेम अथवा कोमल पक्ष की ओर ही अधिक होता है किन्तु सारन्धा के चरित्र में उत्साह वृत्ति का असाधारण प्रस्फुटन हुआ है । यही कारण है कि एक आदर्श राजपूत पत्नी की भाँति 'आन पर मर मिटना ही उसके चरित्र की सर्वप्रमुख विशेषता है । सारन्धा के लिए जीवन की सार्थकता इसी जातीय अभिमान एवं धार्मिक उच्चता में निहित है । उसके अनुसार अपनी आन का पालन ही सर्वप्रिय मर्यादा-पालन होता है । उसकी भाभी ठीक उसके प्रतिकूल है' वह दाम्पत्य जीवन को परिस्थितियों की बलिवेदी पर केवल आन के लिए होम करना नहीं चाहती । एक बार उसका पति अनिरुद्धसिंह युद्ध से पराङ्मुख होकर लौट आया था तो उसने उसकी विकलता को अपनी आँचल की छाँह देनी चाही थी परन्तु सारन्धा ने कहा था 'भैया

तुमने कुल की मर्यादा खो दी। ऐसा कभी न हुआ था और अपनी भाभी को उत्तर देती है कि उसका पति इस अवस्था में भागकर आता तो वह उसकी छाती में छुरा भोंक देती। यह तब की बात है जब सारन्धा अविवाहिता थी। विवाहिता होने के उपरान्त तो वह अपनी आन भावना को सक्रिय रूप देती है। उसके पति चम्पतराय जब ओरछा की स्वाधीनता को छोड़कर मुस्लिम राज्य की जागीर दिल्ली में आ जाते हैं तो सारन्धा तब तक उदास रहती है जब तक कि उसका पति वापिस ओरछा नहीं आ जाता। इतना ही नहीं वह एक घोड़े को पाने के लिये 'उच्च पद और राज-सम्मान' सब हाथ से खो देती है। जब बादशाह उससे पूछता है कि क्या वह एक घोड़े के लिए ही राज्य का त्याग कर रही है तो वह निर्भीक होकर उत्तर देती है 'नहीं उस पदार्थ के लिए जो संसार में सबसे अधिक मूल्यवान है।' जब राजा पुनः पूछता है *कि वह क्या है तो वह उत्तर देती है "अपनी आन"।* इसमें कोई सन्देह नहीं कि अपनी आन की भावना से किसी प्रकार भी समझौता न कर सकने के कारण ही उसका भविष्य कष्टमय बनता है पर उसे वह किसी भी मूल्य पर त्याज्य नहीं समझती। वह पति की प्रेरणा पाकर उसकी हत्या करती है उसके उपरान्त अपनी भी पर अपनी आन को आजीवन नहीं छोड़ती।

उत्साहवृत्ति पर आश्रित वीरता उसके चरित्र की दूसरी प्रधान विशेषता है। वह पति को वाणी मात्र से ही प्रेरित नहीं करती अपितु युद्धभूमि में अकस्मात् घुड़सवारों का दस्ता लेकर थकी-हारी हुई सेना में नवजीवन भी भरती है। युद्धभूमि में जिस ध्वज को पकड़ने की सामर्थ्य किसी में भी न थी उसे वह सहज ही अपने पीछे लगा लेती है। निर्भीकता के कारण ही वह शाही दरबार में न्याय की माँग के हेतु सैनिकों सहित ज्वाला-सी धधकती हुई पहुँच जाती है। जिस भाँति वह अपना तथा पति का अन्त करती है वह भी अपार साहस वीरता का आदर्श है। वह वीर-परिणीता ही नहीं वीर-वत्सला भी है। अपने सर्वप्रिय पुत्र छत्रसाल को वह अपने ही हाथों मौत के मुँह में भेजने से तनिक भी नहीं कतराती। परन्तु सारन्धा की वीरता में नृशंसता नहीं है। शत्रु पक्ष भी जब गिड़गिड़ा कर सहायता के लिए हाथ फैलाता है तो वह अपने पति से कहती है "आपको मदद करनी होगी"। इस प्रकार उसकी वीरता उदारता को सँजोये हुए है। जीवन ही सारन्धा के लिए रणक्षेत्र है। पत्नी रूप में उसका जीवन तनिक भी चैन का जीवन नहीं है किन्तु बड़ी-बड़ी आपत्तियों में भी अपनी वीर भावना के कारण ही वह व्यक्तिगत जीवन से पलायन करने की बात तक अधरों पर नहीं लाती।

सारन्धा के व्यक्तित्व में यद्यपि कोमल तत्त्व कठोर तत्त्व से अपेक्षाकृत अत्यन्त गौण है तथापि इसका यह तात्पर्य नहीं कि वह अपने रागात्मक कर्तव्यों के प्रति उदासीन है। वह एक आदर्श पत्नी भी है जो युद्धभूमि में भी चोटें से उतरकर पति के चरणों पर सिर झुका देती है और भीषण आपदाओं में भी यही कहती है "मेरी हार्दिक अभिलाषा है कि मरूँ तो यह मस्तक आपके पद-कमलों पर हो। पति की आज्ञा को उसने अपनी उदासी को छिपाकर भी अपनी वात्सल्य-वृत्तियों को दबाकर भी शिरोधार्य समझा है। पति-आज्ञा से वचन-बद्ध हो कर ही वह पति की स्वाभिमानी मृत्यु का कारण बनी पर पति से विलग रहकर स्वयं उसने भी जीना नहीं चाहा। वह चाहती तो जीवित रह सकती थी। उसके साहस और धैर्य को देखकर मुग़ल सरदार ने कहा भी था—"रानी साहिबा खुदा गवाह है हम सब आपके गुलाम हैं। आपका जो हुक्म हो उसे बसरोचश्म बजा लायेंगे" परन्तु सती सारन्धा इसका उत्तर तलवार अपने हृदय में चुभाकर देती है। वह आजीवन अपने पति की प्रेरणा एक राजपूत पति की सम्पूर्ति रही है। "राजा को भी ज्ञात था कि वह देवी जो हृदय में मेरी पूजा करती है सारन्धा है।" इसलिये जिस पति को पाकर सारन्धा को 'नौरत्नों' मुग़ल की प्राप्ति होती है उसके बिना वह कैसे जी सकती थी। सारन्धा की कोमल वृत्तियों से समृद्ध उसका मातृत्व भी मर नहीं चुका है। क्षण भर के लिये ही सही पर वह सोचती अवश्य है "हाय ! इस घुमें के लिये मैंने अपना प्रिय पुत्र हाथ से खो दिया" पर क्यों ही यह विचार आता है कि "कागज के टुकड़े को इतने महँगे दामों किसने लिया होगा" तो वह स्वयं को वात्सल्य-वंचिता समझती है।

इस प्रकार सारंधा का चरित्र परम्परागत वीर राजपूतनी के रूप में चित्रित हुआ है। उसमें व्यापक देशभक्ति तो नहीं और मानवीय सेवा आदि का सम्मिश्रण भी नहीं किन्तु जातीय सम्मान एवं भक्ति अवश्य विद्यमान है। इस दृष्टि से उसके चरित्र की व्यापकता की सीमा दूर तक नहीं जाती परन्तु जिस एक भावोद्बोधन के लिये कहानी में चरित्राभिव्यक्ति हुआ करती है उसकी दृष्टि से वह अवश्य ही सफल है। जहाँ तक स्वाभाविकता का प्रश्न है—परम्परा-चित्रण प्रायः स्वाभाविकता की परवाह नहीं किया करता। सारन्धा के चरित्र में एक-दो स्थान पर प्रेमचन्द ने अपनी मनोवैज्ञानिक त्रुटियों की ओर निर्देश किया भी है पर अन्य चारित्रिक विशेषताओं की तीव्रता के समक्ष वह भावना घुलती हुई-सी लगती है।

उमा

थोड़ी-सी झलक दिखाने के उपरान्त ही 'प्रेम की वेदी' (नाटक) की उमा के जीवन का पटाक्षेप हो जाता है परन्तु प्रभावोत्पादन की दृष्टि से यह झलक मार्मिक एवं चिरस्थायी है। इसका महत्त्व और भी अधिक इस दृष्टि से है कि सम्पूर्ण प्रेमचन्द-साहित्य में इस उद्देश्य-विशेष से ऐसी अभिव्यक्ति अन्यत्र कहीं नहीं हुई है। एक सुपत्नी किस प्रकार एकनिष्ठ पति की ही अनवरत वासना का शिकार होकर मृत्यु का ग्रास बन जाती है—उमा के चरित्र का प्रतिपाद्य यही है।

व्यक्तिगत रूप से उमा के चरित्र में श्रद्धा निष्कामना लज्जा एवं नारी-सुलभ ईर्ष्यायुक्त सजगता—इन चार विशेषताओं की भिन्नाभिव्यक्ति हुई है। उमा विवाह-सम्बन्ध को आदर्श भारतीय युवती की भाँति आदर एवं श्रद्धा का विषय ही नहीं मानकर चलती अपितु समस्त सोहाग-चिह्नों को भी बाह्य सज्जा के रूप में ग्रहण न करके कर्त्तव्य और आत्म-समर्पण के प्रतीक मानकर चलती है। वह जैनी से कहती है 'जिसे तुम गुलामी की हथकड़ी और गुलामी का तौक कहती हो उसे मैं व्रत और कर्त्तव्य और आत्म-समर्पण का चिह्न समझती हूँ। मरते समय भी वह पति से एकमात्र याचना यही करती है वचन दो कि मैं मर जाऊँगी तो मेरी सोहाग-सिन्दूर की डिबिया पर रोज दो फूल चढ़ाओगे। उसी सिन्दूर ने तो मुझे तुम्हारा प्रेमदान दिया था। तुम्हें छोड़कर मुझे संसार में उससे प्रिय और कोई वस्तु नहीं है। निष्काम भावना उसकी वहाँ प्रकट होती है जहाँ वह जैनी से कहती है पुरुष अपने कर्त्तव्य से आँखें बन्द कर ले तो क्या स्त्री भी बन्द करले स्त्री परिवार का मुख्य अंग है इसलिये उसे बन्धनों की ज्यादा जरूरत है।' वह यह मानकर चलती है और अपने निर्विरोध जीवन में क्रियान्वित करके भी दिखा देती है कि निष्काम कर्म के लिये स्त्री को पुरुष से अधिक अधिकार प्राप्ति अथवा स्वच्छन्दता आदि की माँगें करना शोभा नहीं देता। वह अपनी प्रशंसा निस्संकोच होकर अपने ही मुँह पर नहीं सुन सकती। इससे उसकी स्वाभाविक लज्जाशीलता का पता चलता है। "तुम दोनों मिलकर मुझे बनाओगे तो मैं भाग जाऊँगी'—ये शब्द उसके हृदय की सरलता एवं सच्ची सहृदयता के द्योतक हैं। उसके चरित्र में एक ईर्ष्यायुक्त सजगता भी विद्यमान है। उसकी सखी जैनी जब उसके पति से आँखें मिलाती है तो वह जैनी को तीव्र नेत्रों से देखती है और जब जैनी कौतूहलपूर्वक से योगराज को प्याले धुलाने के लिये प्यालों वाली कोठरी में ले जाती है तो वह 'मैंने अम्मा से कहा भी नहीं चली आई' वह मुझ पर नाराज होने लगेंगी"

—इतना कहकर ही वस्तु छुड़ा लेती है।

पत्नी-रूप में उमा पाश्चात्य विचारों से प्रभावित लेनी से वैषम्य-दर्शन के हेतु चित्रित हुई है। लेनी ने एक बार कहा था—"अपनी हस्ती को पति की हस्ती में डुबा देना इतना बड़ा त्याग है जो मैं नहीं कर सकती।" किन्तु उमा के चरित्र की तो सर्व प्रमुख विशेषता ही यह है कि उसने अपने अस्तित्व को पति के अस्तित्व में विक्षेप कर दिया है। सहनशीलता त्याग तथा समर्पण उसके पातिव्रत के अनिवार्य अर्थ हैं। उसका पति उसके जीने की एकनिष्ठ भले ही है पर वासना-पूर्ति पर नियन्त्रण नहीं रख सकता। परन्तु उमा उसे भी पति की आज्ञा एवं पत्नी-धर्म के रूप में स्वीकार्य ही समझती है। साल-भर में दो गर्भपात और तीसरा गर्भ इस असह्य वेदना ने उमा को कितनी शारीरिक तथा मानसिक यातना दी होगी यह सहज अनुमान का विषय है। लेडी डाक्टर के शब्दों में "जिस वक्त उमा पहली आई थी मैंने उन्हें देखा था। खिले हुए गुलाब का-सा चेहरा था। एक साल के अन्दर उनकी यह दशा हो गई कि देह में रुधिर का नाम नहीं। इसके जिम्मेदार आप हैं।" किन्तु सहनशीला उमा पति को दोषी न ठहराती हुई यही सोचती रहती है "जीवन इतना अस्थिर है मैंने इसकी कल्पना भी न की थी मानो एक स्वप्न था कि आँखें खुलते ही गायब हो गया।" पर वास्तविकता तो यह है कि उसने अपने शरीर को जैसे तुच्छ समझकर पति के लिये त्याग दिया है, बलिदान कर दिया है। उसने तो आजीवन समर्पण की भावना से ही पति-प्रेम को महत्त्व दिया है। वह मृत्यु शय्या पर भी जब कि उसके पति को आत्म-कृत्यों पर ग्लानि हो रही होती है, यही कहती है "मुझे उनके जाने से कष्ट होगा? यह उनका प्रेम है जो मुझे जिन्दा रखे हुए है अम्मा। वह ज्योति मुझे जीवन प्रदान कर रही है नहीं तो अब तक यह जीवन कब का बुझ गया होता।" लेडी डाक्टर उसके पति से कहती है "अपने कर्त्तव्य का कोई ज्ञान न था। वह तो इतना ही जानती थी कि आप उसके स्वामी हैं आपकी इच्छाओं के आगे सिर झुकाना उसका कर्त्तव्य है। उसे क्या मालूम था कि वह आपकी कामुकता के आगे सिर झुकाकर अपने लिये विष को बो रही है।" पति के प्रेम में निहित कामुकता का ज्ञान उमा को नहीं था—यह कहना तो उसकी चरित्र-गरिमा को कम करना है। उसके व्यक्तिगत रूप का प्रतिपालन ही है उसका पत्नीत्व। यदि दोनों में अन्योन्याश्रय एवं अनन्यता के तत्त्व होते तो ऐसा कहा जा सकता था। वस्तुतः उमा ने देना ही देना सीखा है पति के प्रतिदान में उसने किसी भी वस्तु की चाह नहीं की है और जो मिल गया है उसे पति की इच्छा-पूर्ति का धर्म समझकर शिरो-

चार्य किया है।

कलात्मक दृष्टि से उमा के चरित्र-चित्रण में विकास उभार अथवा स्वाभाविकता की खोज करना उतना ही व्यर्थ है जितना कि प्रेमचन्द के नाटकों में विकास की नवीन रेखाओं का अन्वेषण करना। परन्तु प्रेमचन्द की नारी-भावना में अन्तर्निहित उपयोगितावादी अथवा लोकमांगलिक तत्त्वों की अनिवार्यता की दृष्टि से उमा का चरित्र विशेष तथा निजी महत्त्व रखता है। हमारे विचार से पति-पत्नी के यौन-सम्बन्धों के औचित्य का प्रतिपादन समाज के लिये अत्यन्त आवश्यक है। खेद का विषय है कि हिन्दी-उपन्यास तथा नाटक आदि लोक-मंगल के ऐसे पक्षों से बहुत दूर अनावश्यक समस्याओं एवं मनोवैज्ञानिक गुत्थियों के सुलझाव के प्रयत्न में और भी अधिक उलझते जा रहे हैं; सामान्य पाठक की मनोवृत्तियों की नैतिकतापूर्ण दृष्टि उनकी दृष्टि से ओझल होती जा रही है। स्वयं प्रेमचन्द ने भी यहाँ वेनी के चरित्र को उमा के चरित्र से अधिक विस्तार देकर उमा के साथ अन्याय किया है। उमा ही के चरित्र पर अधिक बल दिया होता तो वह अपने ढंग की अद्वितीय सृष्टि होती।

लौंगी

"जब किसी पुरुष का एक स्त्री के साथ पति-पत्नी का-सा सम्बन्ध हो जावे तो पुरुष का धर्म है कि जब तक स्त्री की ओर से कोई विरुद्ध आचरण न देखे उस सम्बन्ध को निबाहे चाहे स्त्री किसी भी नीच जाति की हो' दूसरे शब्दों में एक रखेल भी आदर्श पत्नी हो सकती है और समझी जा सकती है—इसी उद्देश्य को लेकर 'कायाकल्प' में लौंगी की चरित्राभिव्यक्ति हुई है।

"लौंगी को देखो"—इस उपदेश-वाक्य के माध्यम से प्रेमचन्द ने लौंगी की सेवा-भावना को अमरत्व प्रदान किया है। ठाकुर हरिसेवकसिंह के घर की 'लौंडी' लौंगी उनके विधुर होने के पश्चात् अपनी सेवा-भावना के भरोसे ही उनकी 'प्राणेश्वरी' के पद पर अभिषिक्त होती है। "ईर्ष्या क्रोध और मत्सर उसे छू भी नहीं गया है। ठाकुर साहब से तो अपनी इस भावना का प्रतिदान भी वह नहीं चाहती है। उन्होंने उसे दो-एक बार मारा भी पर उसके माथे पर बल भी न आता था। उनका "सिर भी दुखे तो उसकी जान निकल जाती थी। वह उसकी स्नेहमयी सेवा ही थी जिसने ऐसे हिंसक जीव को पकड़ रखा था।" ठाकुर साहब उसे बुरा-भला कहते हैं तो भी उसके बिना रह नहीं

सकते। तीर्थ-यात्रा पर जब वह गई थी दीवान साहब दीवाने हो गये थे।"
गुरुसेवक लौंगी के पति का पुत्र होते हुए भी उसका विरोधी है" किन्तु उसे
भी कभी-कभी यह स्वीकार करना ही पड़ता है कि "लौंगी का घर में होना
पिताजी की रक्षा के लिये जरूरी है। वह ठाकुर साहब की प्रेरणा है सम्पत्ति
है सर्वस्व है, यहाँ तक कि दीवान साहब को जब राजा विशालसिंह से भी
कोई महत्त्वपूर्ण बात करनी होती है तो वह चिन्तित हो जाते हैं क्योंकि "उनकी
रक्षा करने के लिये वहाँ लौंगी नहीं होती। और लौंगी को अपनी सेवा
भावना पर विश्वास है गर्व है उसमें निराशा नहीं अपितु लगन का विश्वास
त्याग है। वह पति की सेवा करती है तो उस पर अपना अधिकार भी
समझती है। उसे पूर्ण विश्वास है कि 'भाग्य से कोई ब्याहिता नहीं होती सेवा
और प्रेम से होती है' यही कारण है कि उसे अपनी सेवा भावना एवं पत्नीत्व
कल्पना पर गर्व भी है। जब गुरु सेवकसिंह उसे दूसरे मकान में रखने की बात
करता है तो वह गरज पड़ती है 'तो बच्चा सुनो जब तक मालिक जीता है
लौंगी इसी घर में रहेगी और इसी तरह रहेगी' "मैंने अपने मालिक की
जितनी सेवा की है और करने को तैयार हूँ उतनी कौन ब्याहिता करेगी ?
इस प्रकार उसकी सेवा-भावना एक दिलजली की भावना नहीं अपितु, माता
मालिनी की भावात्मिका भावना है। मनोरमा के प्रश्न को लेकर वह पति के
समय उसकी अवश्य है, किन्तु यहाँ भी वह उन गिनी चुनी स्त्रियों में प्रमुख
स्थान पाती है जिन्हें देखकर प्रेमचन्द कहते हैं "रमणी का हृदय सेवा के सूक्ष्म
परमाणुओं से बना हुआ है। उसका प्रेम भी सेवा है उसका अधिकार भी
सेवा है यहाँ तक कि उसका क्रोध भी सेवा है।

भाग्य-परित्यक्ता लौंगी का पत्नीत्व ही नहीं मातृत्व भी अत्यन्त विकसित है।
विमाता नाम की वास्तविकता तो जैसे उसके स्पर्श मात्र से धुल जाती है। मनोरमा
पर वह जान देती है। मनोरमा ने उसे पाकर कभी स्वयं को अनाथ नहीं
समझा "मातृ-स्नेह का जो कुछ सुख उसे मिला था लौंगी ही से मिलता था।"
जब उसे पता चलता है कि मनोरमा का विवाह बूढ़े राजा साहब से होने जा
रहा है तो अनमेल विवाह के दुष्परिणाम को भली प्रकार समझती हुई वह किसी
भी माता से अधिक चिन्तित हो उठती है। वह बहुरूपियों से चिल्लाकर कहती
है "भैया अगर तुम्हें धन का लोभ हो तो जितना चाहो मुझसे ले जाओ।
मेरी बिटिया को कुएँ में न ढकेलो। क्यों उसके दुश्मन बने हुए हो ?" मनोरमा
के भाई ठाकुर गुरु सेवकसिंह उसे 'कुलटा' तक कह देते हैं किन्तु उसकी सदैव
यही चाह रही है—"गुरुसेवक सिंह के मुँह से 'अम्मा' सुनकर मुझे वह खुशी

होगी जो संसार की रानी बनकर भी नहीं होगी। स्वामी की मृत्यु के उपरान्त तो उसके जीने का एकमात्र अवलम्ब उसका यह निरीह-सा वात्सल्य ही है। उसे सन्देह रहा है कि गुरुसेवकसिंह नीच जाति की होने के कारण उससे घृणा करते हैं किन्तु जब एक दिन वह भी आकर कहते हैं 'हाँ बाँधकर रखेंगे" तो लौंगी का मन बल्लियों उछल पड़ता है और सचमुच ही वैधव्यावस्था में भी वह जीवन के साथ वात्सल्य के अटूट तारों से बंध जाती है। और फिर धन तो उस सहज-वत्सला के लिये एक तुच्छ-सी वस्तु है। यह ठीक है कि ठाकुर साहब के घर में "लक्ष्मी ही लौंगी के रूप में आई है" किन्तु लौंगी उससे सदैव निर्लिप्त ही रही है। जब उसे मनोरमा द्वारा ज्ञात होता है "पिता जी ने सारी जायदाद तुम्हारे नाम लिख दी है" तो लौंगी पर इस सूचना का तनिक भी असर नहीं होता। उल्लास उत्सुकता का पर्व से कोसों परे उसका चेहरा भावशून्य-सा दीख पड़ता है। वह कहती है "बेटा तुम यह वसीयतनामा ले जाकर उन्हीं (गुरुसेवकसिंह) को दे दो। तुम्हारे दादाजी ने व्यर्थ ही वसीयत लिखायी। जब गुरुसेवक बचपन में बीमार पड़ा था "तो यह लौंगी ही थी जिसने उसे मौत के मुँह से निकाल लिया था" "कोई माता अपने बालक की इतनी सेवा नहीं कर सकती" "लौंगी उसका पंजर गोद में लेकर सोया करती थी"। क्या आज उसकी समस्त मातृ-भावना का सिला एक कागज के टुकड़े से चुकाया जायेगा? नहीं लौंगी ऐसा कभी नहीं होने देगी। वह तो इतना मात्र ही चाहती है कि मनोरमा तथा गुरुसेवक यही समझें कि "जब तक माँ-बाप जीते हैं तब तक लड़कों को बोलने का अख्तियार ही क्या है।' उसके परितोष के लिये इतना ही पर्याप्त है कि उसे कोई माँ समझे। इस प्रकार, उसका मातृत्व लोभ नहीं अपितु उत्सर्ग पर आश्रित है—निस्वार्थ एवं निर्विकार है।

पद पाकर लौंगी गर्व में चूर नहीं होती अपितु वह एक सुगृहिणी है और सामान्य व्यावहारिक जीवन में सौजन्य एवं दया उसके चरित्र के सहज साधारण धर्म हैं। ठाकुर हरिसेवक सिंह को धन से मोह है किन्तु लौंगी चूँकि एक परिचारिका से ऊपर उठी है अतः वह परिवार के नौकरों की स्थिति से भली भाँति परिचित है। "यह उसकी सज्जनता थी जो नौकरों को वेतन न मिलने पर भी जाने न देती थी।" आर्थिक दृष्टि से वह निश्चय ही ठाकुर साहब के अधीन है किन्तु उसकी सहानुभूति सज्जनता तथा उदारता पर तो कोई प्रतिबन्ध नहीं लगा सकता।

लौंगी का विश्वास है कि "भाग्य पर वह भरोसा करता है जिसमें पौरुष नहीं होता'। अतः तीर्थ-यात्रा आदि की आस्तिक भावनाओं के होते हुए भी

वह पुरुषार्थ को महत्त्व देती है। उसकी धारणा है कि मनुष्य को आत्मबल से ऊपर उठना चाहिये "धोखा देकर पेट पालने से मर जाना अच्छा है। यही कारण है कि लौंगी में एक स्वावलम्बी आत्म-सम्मान की भावना घर किये हुए है। ठाकुर साहब की मृत्यु पर "वैधव्य के शोक के साथ यह भाव कि मैं किसी दूसरे की रोटियों पर पड़ी हूँ उसके लिये असह्य था"। ठाकुर साहब के जीवन में भी आत्म-सम्मान के प्रति आग्रह करने का प्रयत्न उसने किया था "तहसीलदार साहब तुम तो धमकाते हो जैसे हम राजा के हाथों बिक गए हों। रानी रूठेंगी अपना सोहाग लेंगी। अपनी नौकरी ही लेंगे ले जायें भगवान् का दिया खाने भर को बहुत है।

लौंगी अत्यन्त व्यवहारकुशल है और मानव-हृदय की गहरी पहचान भी रखे है। घर में कोई नहीं जानता किन्तु लौंगी को पता है कि मनोरमा को चक्रधर से प्रेम है। वह तिलमिला कर रह जाती है— 'हाय! दाने पर गिरने वाली चिड़िया को मोती चुगाने की चेष्टा की जा रही है।' सूरत देखते ही वह व्यक्ति को पहचान जाती है। [illegible] को जब ज्योतिषी के वेश में उसके सामने लाकर खड़ा किया जाता है तो वह मुंशी वज्रधर पर बरस पड़ती है "लाला तुमने बहुत दिनों तहसीलदारी की है तो मैंने भी धूप में बाल नहीं पकाये हैं। एक बहुरूपिये को लाकर खड़ा कर दिया ऊपर से कहते हैं जोतसी हैं। ऐसी ही सूरत होती है जोतसी की? मालूम होता है महीनों से खाने की सूरत नहीं देखी।"

लौंगी के मोटापे के वर्णन द्वारा यद्यपि प्रेमचन्द ने थोड़ी विनोद-सामग्री जुटाई है पर इंगित इस ओर अधिक है कि उसकी पौष्टिक-सुख-जन्य बाह्य स्थूलता अन्तरंग कोमलता का क्षय नहीं कर पाई। लौंगी जितनी अधिक स्थूल होती गई है उसकी मानवीय भावनाओं में भी वैसे उतना ही प्रसार पाता गया है। यह और बात है कि उसमें शिक्षितों की सी गहराई नहीं है सामान्य मानवतावादी मूल्य ही हैं किन्तु यह भी ठीक है कि सामान्य व्यावहारिक जीवन में इन्हीं सामान्य मूल्यों के सहारे ही ऊपर उठा जाता है। इस स्थूल काया के प्रति ही मनोरमा 'प्रेम भरा गर्व और आश्चर्य से देख रही थी मानो यह कोई देवी हो।

(ग) मातृ-रूप

रानी जाह्नवी

'संग्रामभूमि की वीर प्रभू जाह्नवी भारत की आदर्श राजपूत माता के रूप

में ही प्रधानतः चित्रित हुई है। जाह्नवी की कर्तव्य-निष्ठा एवं देश-सेवा में योगदान ही उसके जीवन की लक्ष्य-साधना है। उसका विश्वास है कि अन्याय अत्याचार एवं परतन्त्रता के पाश सेवा बलिदान एवं त्याग से कटते हैं और माताओं द्वारा देश-सन्तति के संस्कारों में इन मूल्यों की यथेष्ट संयोजना होनी चाहिये। देश में आत्मसेवी पुरुषों और सन्तान-सेवी माताओं का अभाव नहीं है। धरती उनके बोझ से दबी जाती है। मैं अपने बेटे को सच्चा राजपूत बनाना चाहती हूँ। इसी भावना से प्रेरित होकर वह प्रारम्भ से ही अपने मातृत्व को हृदय से अधिक बुद्धि के सांचे में ढालना आरम्भ करती है। भारत की परिपुष्ट सांस्कृतिक सभ्यता ने उसे अभिमन्यु दुर्गादास और प्रताप की ओर अपने पुत्र विनय के जन्म से पूर्व ही आकृष्ट किया है। पुत्र-जन्म के उपरान्त वह शैशव से ही उसे कठिनाइयों के मार्ग पर अग्रसर करती है न कभी गद्दों पर सुलाती है न कभी महरियों और दाइयों की गोद में जाने देती है और न कभी मेवे आदि स्वादिष्ट पदार्थ ही उसे खिलाती है। उसे शिक्षा भी वह अंग्रेजी ढंग से नहीं अपितु स्वनिश्चित प्रणाली से देती है। 'दस वर्ष' की अवस्था तक केवल धार्मिक कथाओं द्वारा उसकी शिक्षा होती है इसके बाद डाक्टर गांगुली जैसे सुयोग्य अध्यापक के निरीक्षण में छोड़ दिया जाता है और संस्कृत तथा अन्य भारतीय भाषाओं के अतिरिक्त यूरोप की प्रधान भाषाओं का ज्ञान भी उसे दिया जाता है। इसके अतिरिक्त युवावस्था को पहुँचते-पहुँचते वह पृथ्वी के अनेक प्रदेशों का पर्यटन करने के साथ ही संगीत आदि ललित कलाओं में भी पारंगत हो जाता है। युवक होते ही देश के प्रति कर्तव्य तथा सेवा का व्रत उसे दिया जाता है। रानी के अपने ही शब्दों में वह अब "पूरा स्वामी है। इस प्रकार रानी जाह्नवी सन्तान की प्रारम्भिक शिक्षा को अत्यन्त महत्त्वपूर्ण समझती है। उसने स्वयं पुत्रपालन का आदर्श व्रत लिया हुआ है। यही कारण है कि उस कोमलांगिनी की सौम्य मुखाकृति पर असाधारण मातृत्व का तेज विद्यमान है जिसके प्रभावस्वरूप सोफिया ने पूर्वावस्था में उसे सेंट समझा था और यही कारण है कि जाह्नवी सन्तान-गर्विता भी है। सोफी से वह कहती है 'सोफी भगवान् ने मुझे दो बच्चे दिये और दोनों को देखकर हृदय शीतल हो जाता है।' इसके साथ ही रानी का यह भी विश्वास है कि एक सपूत अपनी सत्यनिष्ठा एवं अन्य चारित्रिक ऊँचाइयों के परिणाम स्वरूप पिता तक को प्रभावित किये बिना नहीं रहता। उसके शब्दों में उसके पति कुँवर साहिब को जो सेवा समिति से इतना प्रेम है वह विनय ही के सत्संग का फल है। मातृ-रूप में जाह्नवी अनेक सन्तानाभिलाषिणी भी नहीं है

और न ही उसे पोतों को खिलाने आदि की लालसा है" वह तो पुत्र के जीवन में विलासिता से कहीं अधिक महत्व कर्तव्य एवं उसके हेतु उत्सर्ग को देती है। वह स्पष्ट कहती है कि "जातिरक्षा के लिये उसे प्राण भी देना पड़े तो मुझे जरा भी शोक न होगा" शोक तब होगा जब मैं उसे ऐश्वर्य के सामने सिर झुकाते या कर्तव्य के क्षेत्र में पीछे हटते देखूँगी। और जब वह विनय को सोफी के प्रति आसक्त देखती है तो उसका विकसित शान्त मुख-मण्डल तमतमा उठता है। वह उसी समय उसे उससे दूर भेज देती है। जसवन्तनगर में विनय भावुकता वश तनिक भी विपथगमन करता है कि जाह्नवी की भर्त्सना पहुँचती है "चित्रकार जब कोई चित्र बनाते देखता है कि इससे उसके मन के भाव व्यक्त नहीं होते तो वह तुरन्त उसे मिटा देता है। उसी भाँति मैं तुझे भी मिटा देना चाहती हूँ।" उसके इसी नियन्त्रण का फल है कि विनय आत्मग्लानि से आकुल होकर पाण्डेपुर के सत्याग्रह में प्राणाहुति देता है। उसकी यह वीर-मृत्यु भी रानी को दहला नहीं पाती है। उसके चेहरे पर शोक-छाया की विकृति नहीं अपितु आँसुओं के स्थान पर दृढ़ संकल्प की कठोरता उभरती है क्योंकि उसके अनुसार "दिव्य मृत्यु दिव्य जीवन से कहीं उत्तम है। दिव्य जीवन में अनुचित मृत्यु की शंका रहती है" दिव्य मृत्यु में यह कहाँ? कोई जीव दिव्य नहीं जब तक उसका अन्त भी दिव्य न हो। और रानी जाह्नवी एक पुत्र की दिवंगति का अन्य उदाहरण अनेक पुत्रों के समक्ष रखती हुई कहती है "कर्तव्य के क्षेत्र में हिन्दू और मुसलमान का भेद नहीं "जाओ और विनय की भाँति प्राण देना सीखो। दुनिया केवल पेट पालने की जगह नहीं है। देश की आँखें तुम्हारी ओर लगी हुई हैं। तुम्हीं इसका बेड़ा पार लगाओगे। इस प्रकार रानी जाह्नवी एक माता के रूप में सर्वथा हृदय को दबाती गई है और कर्तव्य को निरन्तर बुद्धि के प्रश्रय में तोलती गई है। उसका मातृत्व हृदय की कोमलता से नहीं अपितु बुद्धि के तर्कसंगत नियन्त्रण से जकड़ा हुआ है जिसकी सर्वप्रमुख विशेषता है देश-भक्ति और उपर्युक्त शेष विशेषतायें जिसके साधन रूप में चित्रित हुई हैं किन्तु इसके साथ ही प्रेमचन्द यह भी दिखा देना चाहते हैं कि जाह्नवी का वात्सल्य कर्तव्य-भावना से कुंठित हो चुका हो—ऐसी बात नहीं है। उन्होंने उसके एक नारी-सहज तरल मातृ-रूप की ओर भी इंगित किया है। वत्स प्रेम के कारण ही वह क्रिश्चियन सोफ़ी के हिन्दू विनय से परिणय की शास्त्रीय विधि ढूँढ निकालती है और एक स्थान पर तो प्रेमचन्द लिखते भी हैं कि जाह्नवी "स्पष्ट तो न कह सकती पर मित्रों से विनय को पाण्डेपुर के सत्याग्रह में सम्मिलित होने से रोकती थी। इन्द्रदत्त की हत्या ने उन्हें बहुत

समर्पण कर दिया था। एक और स्थान पर तो रानी फूट-फूट कर रोती भी है और विलाप-सा करती हुई कहती भी है "मैं हत्यारिन हूँ मुझ से बड़ी अभागिन संसार में और कोई न होगी। न जाने विनय का क्या हाल हुआ होगा। रानी के मातृत्व के इस पक्ष को उसका सरल ममत्व तथा उपरोक्त पक्ष को उसका बाह्य अथवा आदर्श प्रधान रूप कहा जा सकता है। पर इन दोनों के बीच चित्रण की अस्वाभाविकता की एक कड़ी भी विद्यमान है। फूट-फूट कर रोने वाली जाह्नवी पुत्र की मृत्यु पर तनिक भी शोक-विह्वल न हो अथवा "जाति रक्षा के लिये उसे प्राण भी देना पड़े तो मुझे जरा भी शोक न होगा" ऐसा कहने वाली विशिष्ट हृदया माता सुबकने लग जाये—यह एक असंगति है। हम यह नहीं कहते कि मातृत्व के ये दोनों पक्ष हो ही नहीं सकते—यह द्वन्द्वशील पक्ष तो नारी-हृदय की बहुत बड़ी विशेषता होती है किन्तु हम यह कहना चाहते हैं कि जाह्नवी के मातृत्व के अन्तरंग तथा बहिरंग अथवा उसके हृदय तथा बुद्धि में प्रेमचन्द एक तीव्र अन्तर्द्वन्द्व का विधान नहीं कर पाये हैं। ऐसा लगता है कि बहिरंग अथवा आदर्श मातृत्व का चित्रण करते-करते उन्हें अनायास ही विचार आ जाता है कि—नहीं-नहीं मातृत्व का एक सरल पक्ष भी होता है उसकी अभिव्यक्ति भी आवश्यक है—अतः ज्योंही अवसर मिला उन्होंने रानी को रुलाकर अथवा मृत्यु से थोड़ी बहुत आतंकित दिखाकर सन्तुलन का प्रयास किया है। पर इसे तो अन्तर्द्वन्द्व नहीं कहा जा सकता। यह तो अस्वाभाविकता ही है। बात यहीं समाप्त नहीं हो जाती। जाह्नवी के व्यक्तिगत रूप एवं मातृ-रूप में भी परस्पर विरोध है। पुत्र से वह त्याग की माँग करती है किन्तु स्वयं त्यागिनी नहीं है पुत्र को विलासिता का कठोर दण्ड देती है पर स्वयं उसी भवन में रहती है जिसमें सजाए गए, 'एक-एक चित्र और एक-एक प्याले के लिए हजारों खर्च किये हैं।' पुत्र को वह स्वावलम्बी बनाना चाहती है पर स्वयं घर में नौकर-चाकरों से मुक्त नहीं है—और तो और वधू भी पुत्र की भाँति त्यागव्रती तथा विचार धीरा नहीं—सन्यासिनी वधू नहीं भोग करने वाली वधू चाहती थी। वस्तुतः जाह्नवी जिस पुरुषार्थ की आशा रखती है यदि उसको निजी चरित्र में भी वह चरितार्थ किया गया होता तो हमारे विचार से उसके मातृत्व का यह खोखलापन उतनी ही अधिक मात्रा में उसकी श्रीवृद्धि का उपकरण हुआ होता। कुल मिलाकर जाह्नवी के चरित्र के मातृ-पक्ष के विषय में इतना कहा जा सकता है कि गाँधीजी के अहिंसा-संग्राम के जिस युग में प्रेमचन्द ने जिस चरित्र की सृष्टि जिस भाव को लक्ष्य बिन्दु में लेकर की थी उसमें ठोस गरिमा का अभाव होते हुए भी अन्तिम प्रभाव की दृष्टि से भावोद्बोधन की दिशा में

एक महत्वपूर्ण सीमा तक कार्यसिद्धि हुई है।

पत्नी-रूप में जाह्नवी पूर्ण पतिपरायणा है और पति-भक्ति में विश्वास रखती है। इस रूप में उसका चित्रण अधिक तो नहीं हुआ पर इतना स्पष्ट है कि अपने पति की विलासप्रियता पर उसने कभी कोई आक्षेप नहीं किया। इन्दु को दिये गए उसके उपदेश से भी यही प्रतीत होता है कि अगर पति सिर के बल चलने को कहे तो नारी का धर्म है कि वह सिर के बल चले और जब इन्दु पति से विवाद की बात करती है तो वह कहती है "अगर फिर मेरे सामने मुँह से ऐसी बात निकाली तो तेरा गला घोंट दूँगी अगर तुम्हें उनकी बातें पसन्द नहीं आतीं तो कोशिश कर कि पसन्द आयें। वह तेरे पति देव हैं तेरे लिये उनकी सेवा से उत्तम और कोई पथ नहीं है।" इस प्रकार जाह्नवी पतिपरमेश्वर की उपासना में ही पत्नी का कल्याण एवं धर्म समझती है। उसका विश्वास है कि पत्नी का काम लेना कुछ नहीं देना सर्वस्व है। गृहिणी रूप में प्रतिष्ठिका जननी होने के साथ ही धर्म-ग्रन्थों तथा माल दान करना' आदि परम्परागत मान्यताओं में भी उसे विश्वास है।

रानी जाह्नवी पश्चिम की तुलना में भारत को आदर्श की प्रत्येक दृष्टि से अधिक समृद्ध मानती है चाहे उसका वह अंधविश्वास पर ही आधारित क्यों न हो। जब मिसेज सेवक किसी सभा में सभानेत्री हो जाने की शेखी बघारती हुई कहती है 'किसी हिन्दू या मुस्लिम लेडी को यह सम्मान न प्राप्त हो सकता था" तो रानी नोकझोंक पर उतर आती है। उसकी राष्ट्रीयता को यह मिथ्याभास मात्र प्रतीत होता है। वह कहती है 'हिन्दुओं में जो लोग अंग्रेजी से खानपान रखते हैं उन्हें लोग अपमान की दृष्टि से देखते हैं शादी-विवाह का तो कहना ही क्या। राजनीतिक प्रभुत्व की बात और है। साधुओं का एक दल विद्वानों की एक सभा को बहुत आसानी से परास्त कर सकता है' लेकिन इनसे विद्वानों का महत्त्व कुछ कम नहीं होता। प्रत्येक हिन्दू जानता है कि मसीह बौद्धकाल में यहाँ आये थे यहीं उनकी शिक्षा हुई थी और जो ज्ञान उन्होंने यहाँ प्राप्त किया उसी का पश्चिम में प्रचार किया फिर कैसे हो सकता है कि हिन्दू अंग्रेजों को अच्छा समझें ?"

स्पष्टता यद्यपि भौतिक सम्पन्नता एवं आत्माभिमान का साथ बहुत कम देती है तो भी रानी जाह्नवी की यह निजी विलक्षण विशेषता है। सोफ़िया ने विनय की रक्षा अग्नि की लपटों में से की थी' जाह्नवी आजीवन उसके प्रति आभारी रहती है। उस समय तो उसे वह कुल की रक्षा करने वाली देवी' के रूप में दिखाई देती है किन्तु इसके उपरान्त भी जब कभी वह सोचती है

प्रति मुस्काई है तो उसके मन में सर्वथा यह भाव उठा है "सोफ़ी तुम मुझे कृतघ्न कहोगी" । विनय-सोफ़ी-परिणयन का मुहूर्त निकलवाने से पूर्व भी उसकी चाह यही होती है कि किसी "मोम करने वाली वधू" का उनके घर में शुभागमन हो किन्तु वह अपने हृदयगत भावों को सुनकर भी मुँह से न निकालती थी । नहीं वह इस विचार को मन में आने भी न देना चाहती थी इसे कृतघ्नता समझती थी। कृतज्ञता के आवेश में ही वह मिसेज सेवक के गले लिपट जाती है और डाक्टर गांगुली के प्रति भी उसके मन में अपने पुत्र के अभिभावक होने का कृतज्ञता-मिश्रित श्रद्धा भाव ही विद्यमान है ।

रानी एक तुच्छ सफलता पर फूलकर कुप्पा नहीं हो जाती । लक्ष्यसिद्धि की ओर चलते-चलते यदि जीवन के प्रथम चरण पर ही किसी आदर्श प्राप्ति में सफलता मिल जाती है तो रानी के अनुसार वह विजय नहीं अपितु जीवन की 'पहली परीक्षा' होती है जिसके उपरान्त मनुष्य अपने न्याय-पक्ष एवं कर्त्तव्य का बोध हो जाने पर अधिक दृढ़तापूर्वक लक्ष्य की ओर अग्रसर होता है । रास्ते का पड़ाव जिस प्रकार अन्तिम मंजिल नहीं होता उसी प्रकार एक बार की सफलता जीवन की चरम सिद्धि नहीं होती । मि क्लार्क का तबादला हो जाने मात्र पर सभी की आत्म प्रशंसात्मक उक्तियों को सुनकर वह कहती है 'एक तुच्छ सफलता पर आप लोग इतने फूले नहीं समाते । इसे विजय न समझिये यह वास्तव में पराजय है जो आपको अपने अभीष्ट से कोसों दूर हटा देती है, आपके गले में फन्दे को और भी मजबूत कर देती है । गाने वाले सर्दी में गाने को आग से सेंकते हैं केवल इसीलिये कि उसमें से कर्णमधुर स्वर निकले । आप लोग भी सेंके जा रहे हैं अब चोटों के लिये पीठ मजबूत कर लीजिये ।'

एक राजपूत-नारी होने के नाते रानी को आत्म-सम्मान सर्वप्रिय है । आत्म-सम्मान का उदात्तरूप ही आत्मगौरव होता है । यही कारण है कि रानी आत्मगौरव की रक्षा के समक्ष पुत्र रक्षा को भी अत्यन्त हेय समझती है । उसके अनुसार "संसार में कोई ऐसी वस्तु भी है जो सन्तान से भी अधिक प्रिय है—वह आत्म-गौरव है । अपनी आत्म-सम्मान-प्रियता के कारण ही वह डाक्टर गांगुली के कौंसिल छोड़ आने पर उनका स्वागत करती है और कहती है "जिनमें आत्म-सम्मान का भाव जीवित है उनके लिये यहाँ स्थान नहीं ।

रानी की जो चरित्र-परिणति अन्त में हुई है वह अत्यन्त सराहनीय है । विनय तथा सोफ़ी के जीते जी वह जो न कर सकी उसकी ओर अब वह सक्रिय रूप से डा गांगुली तथा अपनी बेटी इन्दु के साथ अग्रसर होती है ।

पहले उसने केवल पुत्र-ममता को ही ताक पर रखा हुआ था किन्तु अब अपने सम्पूर्ण ममत्व का त्याग कर चुकी है। जो सिपाही सोने की ईंट गर्दन में बांध कर चलता है वह कभी नहीं लड़ सकता—इस तथ्य में अब उसका पूर्ण विश्वास है और रानी अपनी तथा अपनी पुत्री के गले से ईंट का त्याग मात्र ही नहीं करती वरन् त्याग के भावात्मक पक्ष—सेवा को भी सक्रिय रूप में अपनाती है। वह "राज की गद्दी से पंचायत का पट्टा ही है" सेवा के हेतु। किन्तु इतना हम अवश्य कहेंगे कि विनय के जीवन-काल में ही यदि प्रेमचन्द ने रानी के व्यक्तिगत जीवन में इस त्याग तथा सक्रियता को अनुप्राणित किया होता तो उसका मातृ-पक्ष भी अधिक स्वाभाविक तथा ठोस हो गया होता।

सलोनी

'कर्मभूमि' की ग्रामीण वृद्धा सलोनी के चरित्र की सर्वप्रमुख विशेषता है उसका सहज स्नेहमय वात्सल्य। सामान्य लोक-दृष्टि से तो इस समय उसकी कोई भी और सन्तान नहीं है किन्तु वात्सल्य की व्यापक दृष्टि से उसका हृदय अब भी बहुत सरस है। अमर ने जब उसके गाँव में कदम रखा था तब वह उसके अमित मुखमण्डल को देखकर अनायास ही स्नेहार्द्र होकर बोल उठी थी "यहाँ तो सब रैदास रहते हैं भैया" और जब अमर ने कहा था कि वह जात पाँत को नहीं मानता तो उसने आशीर्वाद देकर और भी पसीज कर पूछा 'कहाँ जाना है बेटा?' और "अम्मा की कौन कमी है" कहते-कहते उसे अपनी निर्धनता का विचार भी हो आया था तब उसने कहा था 'मन्दिर के चौतरे पर तो रहना' पर मन्दिर के नाम तो बाबुओं और साधुओं के साथ उसके उस बेटे की याद बंधी हुई थी जो उनके फेर में पड़कर लुप्त हो गया था और तब वह अमर को अपनी ही टूटी झोंपड़ी में ले गई थी और मुसकराते हुए कहा था 'थक गये हो थोड़ा-सा दूध रखा है पी लो।" तब उसने स्वयं बाजरे की रोटी खाई थी और अमर को गेहूँ की खिलाई थी। किन्तु अब जब कि अमर उसकी वास्तविक घरेलू दशा से परिचित हो गया है वह बुढ़िया के घर का अंग बन चुका है। उसके जीवन में एक नवीन प्राण-संचार सा हो गया है। सूखी लकड़ी पोपला मुँह है जिसमें थूक भी नहीं है पर जब अमर समीप आकर बैठ जाता है तो उसे वह दिन याद आ जाते हैं "जब उसके अपने बच्चे उसे अम्मा-अम्मा कहकर घेर लेते थे और वह उन्हें डाँटती थी। उस उजड़े हुए घर में आज एक दिया जल रहा था"। इस युवक की ओर क्यों उसकी इतनी ममता हो रही थी "अमर का सरल बालकों का-सा निष्कपट व्यवहार, उन

का बार-बार घर में आना और हरएक काम करने को तैयार हो जाना उसकी सूखी मातृ-भावना को सींचता हुआ-सा जान पड़ता था मानो अपने ही बिसारे हुए बालक की प्रतिध्वनि कहीं दूर से उसके कानों में आ रही है।" और जब अमर एक पुत्र की भाँति उसे दो साड़ियाँ लाकर देता है तब "उसके अन्तःकरण से मानों दूध की धारा बहने लगी। उसका सारा वैधव्य सारा मातृत्व आशीर्वाद बनकर उसके एक-एक रोम को स्पन्दित करने लगा।" ऐसा है सलोनी का वात्सल्य और इसे ही प्रेमचन्द नारी का सर्वोत्कृष्ट रूप मानते हैं परन्तु कुछ आलोचनाओं में सलोनी के सरल वात्सल्य को आतिथ्य-सत्कार मात्र कहा गया है। साक्षी इस तथ्य की दी गई है कि सलोनी को यदि अमर से अपने ही पुत्र जैसा स्नेह होता तो वह अपनी भूमि उसे बँटाई पर देने से इनकार न करती। हमारे विचार से इस भावना के कारण तो सलोनी के वात्सल्य में और भी सहानुभूतिमय व्यापकत्व आ गया है। इसमें सन्देह नहीं कि उसे अपने पुरखों की भूमि अत्यन्त प्रिय है परन्तु थोड़ी और पैनी दृष्टि से देखें तो उस अस्वीकार के भीतर अपने स्वार्थ के हेतु किसी अन्य की आजीविका न छीनने की भावना निहित है। वह कहती है "जिसके पास मेरे खेत आजकल हैं वह तो मेरा ही भाई-बन्द है। उससे छीनकर तुम्हें दे दूँ, तो वह अपने मन में क्या कहेगा। सोचो अगर मैं अनुचित कहती हूँ तो मेरे मुँह पर थप्पड़ मारो उसके मुँह की रोटी छीनकर तुम्हें दे दूँ तो तुम मुझे भला कहोगे बोलो?" यह भावना वात्सल्य का वह पक्ष है जिसे एक निर्धन माता ही जो किसी अन्य को भी किसी माता का पुत्र समझती है जान सकती है। सुखदा चौधरी भी इसके समक्ष निरुत्तर हो जाता है। जहाँ तक आतिथ्य-सत्कार का प्रश्न है वह तो एक प्रतिनिधि ग्रामीण माता के गृहस्थ-जीवन का अनिवार्य अंग होता ही है पर सलोनी का अमर से सम्बन्ध आतिथ्य-सत्कार मात्र का ही नहीं है। सलोनी स्वयं कहती है कि जब खोया हुआ पुत्र भी घर लौट आता तो "पहले दिन उस लड़के की भी मेहमानी की जाती है।"

सलोनी के चरित्र की दूसरी प्रधान विशेषता है शोषक तथा शोषित की पहचान और आत्मसम्मान की रक्षा की भावना। वह एक निपट ग्राम-विधवा है पर जीवन भर के अनुभवों ने उसे शिक्षा दी है कि धर्माधार शोषक होते हैं और यह भी कि शोषक तथा हाकिम न्याय अथवा गिड़गिड़ाहट को कभी नहीं सुनते निर्बलता की फ़रियाद बीरानों में विलीन हो जाती है। "महन्तजी से फ़रियाद करो कोई नहीं सुनेगा बेटा मैं कहे देती हूँ" वह दो-तीन बार इन्हीं शब्दों को दुहराती है। परन्तु इसके साथ ही उसे यह भी विश्वास है कि

आत्मदैन्य कायरता होती है। निर्धन के भी आत्म-सम्मान होता है उसका परिश्रममय पथ ही उसे ऊपर उठा सकता है आत्मदैन्य अथवा अनायास मनुहार नहीं। देवदत्त देकर एक ही रुपया उसे प्राप्त होता है वह भी प्यादा आकर मोचन लगता है सलोनी को तो चिरौरी करना असह्य है। अतः वह मुन्शी को बातों-ही-बातों में बताती है कि प्यादा 'घर में आग लगाए देता था। क्या करती निकालकर फेंक दिया। उस पर अमर भैया कहते हैं—महन्त जी से फरियाद करो। वह रुपया देती नहीं फेंकती है। संघर्षों के पाटों में वह पिस गई है पर बोलियों एवं हण्टरों के समक्ष भी आत्म-सम्मान को हेय नहीं समझा उसने। वह बीमार हुई है बहुत कराही भी है परन्तु धैर्य एवं साहस को कभी नहीं छोड़ा उसने।

आत्म-सम्मान की भावना एवं शोषण के स्वरूप की पहचान ही सलोनी के चरित्र में विद्रोह भरती है। वह संघर्ष के मार्ग पर सक्रिय रूप से अग्रसर होती है। अमर के आगमन से पूर्व भी उसका मन कई बार कसमसा कर रह गया लगता है। किन्तु तब एक उचित निर्देशन का उसे अभाव था। यह अभाव प्रेमचन्दकालीन और किसी सीमा तक आज के भारतीय ग्रामों में भी परिलक्षित होता है। इसके साथ ही सलोनी के चरित्र के इस पक्ष से यह भी ज्ञात होता है कि दबाए भावनाएँ अधिक देर तक दमित नहीं रहती हैं अवसर अथवा निर्देशन पाते ही वे ज्वालामुखी-सी भभक उठती हैं। और सलोनी तो साक्षात ही ज्वाला है। उसका विक्षुब्ध मन अब अभिव्यक्त हो जाता है। सलीम के उसे हण्टर लगाये थे अतः "सहसा सलीम को देखकर वह पीछे हट गई और वैसे बाली री—यह तो हाकिम है। फिर सिंहनी की भाँति झपटकर उसने सलीम को ऐसा धक्का दिया कि वह गिरते-गिरते बचा और जब तक अमरकान्त उसे हटायें सलीम की गरदन पकड़कर इस तरह दबाई, मानो घोंट देगी। इससे पहले उसने कहा था "इसे दिखा दूँगी कि बुढ़िया तेरी छाती पर मूँग दलने को बैठी हुई है।" उसकी गाय पुलिस द्वार से खोल लाती है। "उसने आँचल सिर से उतारकर कमर में बाँधा और लाठी संभाल कर पीछे से दोनों कसाइयों को पीटने लगी।" यह वही विधवा सलोनी है जो लाठी टेककर चलती है किन्तु जिसकी विक्षुब्ध आत्मा उसके शरीर से विद्रोह कर उठती है।

एक दशा की सहनशीलता भी सलोनी काकी में व्याप्त है। वह लाठी चलाते समय चोर के धक्के खाकर गिर पड़ती है पर उसे कोई चिन्ता नहीं। हण्टर खाने के उपरान्त सलोनी को ज्वर चढ़ा हुआ था और सारी देह

फोड़े की भाँति दुख रही थी मगर उसे गाने की धुन सवार थी। अँधेरा हो गया था। आतंक ने सारे गाँव को पिशाच की भाँति छाप लिया था। लोग शोक से मौन और आतंक के मारे दबे मरने वालों की लाशें उठा रहे थे पहर रात जाते-जाते चारों अर्थियाँ गंगा की ओर चलीं। सलोनी लाठी टेकती हुई आगे-आगे गाती जाती थी— 'सैयाँ मेरा रूठा जाय सखी री ।" सलोनी की सहनशीलता की यह चरम सीमा है। विद्रोह करना है क्रान्ति लानी है जागृति फैलानी है तो सलोनी कहती है कि उसकी भयंकर बाधाओं को भी सहर्ष झेलना होगा तूफान मन में रखकर भी वेदना को अन्तर में समेटकर भी आँखों में पानी नहीं अपितु, अधरों पर मुस्कान लानी है।

व्यक्तिगत जीवन में भी सलोनी रसिकता को प्रश्रय देती है। वह लोक-व्यवहार में अत्यन्त कुशल है परन्तु उसका यह कौशल्य निष्कपट एवं सरल है और रसिकता के आवरण में अपनी निर्धनता को छिपाये हुए है। उसके चरित्र में एक अजीब-सी प्राणवत्ता है जो बुढ़ापे में भी उसे मायूस नहीं बनाती अपितु जीवन के प्रति आस्था उत्पन्न करती है जीवन में रस लेती है। अमर जब पत्नी को छोड़कर विरक्त भाव से उसके गाँव में आ जाता है तब वह कहती है 'इस उमर में तो अच्छी नहीं लगती बेटा" और मुन्नी से कहती है "यह सब ठीक है पर तेरा जादू उस पर चल गया।" बुढ़ापे में भी वह अमर के पिता अमरकान्त का जवान भाभी की-सी रसिकता से स्वागत करती है— 'कहाँ हो देवरजी सावन में आते तो तुम्हारे साथ झूला झूलती।" ऐसी जीवन्त आत्मा कभी भी साहित्य में मंथुर नहीं होगी।

उद्देश्य के लिये त्याग भी सलोनी की विशेषता है। पुरखों की भूमि से वह आत्म-गौरव अवश्य ग्रहण करती है किन्तु भूमि से चिपटी हुई वह नहीं है। सलोनी काकी ने अपने घर की जगह पाठशाला के लिये दे दी है। दान कृपण ही दे सकता है। हाँ दान का हेतु ऐसा होना चाहिये जो उसकी नजर में उसके भर-भर के संचे हुए धन के योग्य हो। काकी अमर की झोंपड़ी में रहेगी। एक किनारे बैल-गाय बाँध लेगी। एक किनारे पड़ रहेगी। और इस त्याग के द्वारा आज सलोनी जितनी खुश है उतनी शायद और कभी न हुई हो। उसका त्याग भावात्मक है अभावों की सृष्टि नहीं। वह एक सरल एवं शुद्ध ग्रामीणा है, यदि कोई उसको समझा दे कि जिस दिशा में उसे प्रेरित किया जा रहा है वह महान् उद्देश्य की ओर जाती है वह उसके हेतु प्राण तक गँवा देगी।

इस प्रकार सलोनी का चरित्र अपने समय के आर्थिक संकट ही की अभि

व्यक्ति मात्र नहीं है अपितु प्रेमचन्द ने मनुष्य की विपुलता एवं महती आत्मा के रूप में उसे चित्रित किया है। वह निश्चय ही अमर है।

करुणा

प्रभाव की दृष्टि से "माँ" कहानी की करुणा प्रेमचन्द का सम्पूर्ण मातृ चित्रण में सर्वाधिक गरिमापूर्ण एवं प्रभावक चरित्र है। उसमें मातृत्व के—विशेषत भारतीय मातृत्व के—सहज स्नेहमय एवं उत्सर्गप्रधान शाश्वत रूप का चित्रण हुआ है जाह्नवी आदि की भाँति एक सामयिक संस्कारातीत तथा युग बाह्य रूप-विशेष का नहीं। यही कारण है कि करुणा जाह्नवी की अपेक्षा सामान्य सहृदयानुभूति को अधिक क्षिप्र एवं अधिक स्थायी रूप से आकर्षित करती है।

बन्दी आदित्य देशभक्त के रूप में कठोर कारावास भोग कर घर आता है परन्तु दुर्बलता की अवस्था में अधिक देर तक जीवित नहीं रह पाता। अतः करुणा अब विधवा है और तीन साल के नन्हें प्रकाश का दायित्व उसके ऊपर है। विधवा रूप में भी वह पति-गर्विता है। उसे गर्व है कि उसका पति एक देवता था। यही कारण है कि वह मनोकामनाओं से अधिक आत्मा की तुष्टि को महत्त्व देती है। मृत्यु शय्या पर पड़े हुए पति से वह कहती है "तुम्हारा जीवन देवताओं का सा जीवन था निस्वार्थ निर्लिप्त और आदर्श अगर तुम मोहमाया में फँसे होते तो कदाचित् मेरे मन को अधिक सन्तोष होता लेकिन मेरी आत्मा को वह गर्व और उल्लास न होता जो इस समय हो रहा है। मैं अगर किसी को बड़े से बड़ा आशीर्वाद दे सकती हूँ तो वह यही होगा कि उसका जीवन तुम्हारे जैसा हो। इस प्रकार विधवा करुणा पूर्णरूपेण पति परायणा है और जब मरते समय पति नन्हें प्रकाश की ओर इंगित करता हुआ कह जाता है "इस बच्चे को और मुझे कोई शंका नहीं है। मैं उसे इससे अधिक सुरक्षित हाथों में नहीं छोड़ सकता" तो करुणा के समक्ष आजीवन ऊँचा और पवित्र आदर्श रहता है। उसे ऐसा भास पड़ता है कि आदित्य की आत्मा सदैव उसकी रक्षा करती रहती है। उसकी यही हार्दिक अभिलाषा है कि प्रकाश जवान होकर पिता का पदगामी हो। अतः वह इसी अवधि में ही अपने मातृत्व को ढालने का भरसक प्रयत्न करती है। उसके इस मातृत्व के तीन प्रमुख पक्ष हैं—कर्तव्य-पक्ष ममता-पक्ष एवं विरह-पक्ष।

विधवा करुणा ने प्रकाश के अभ्युत्थान एवं भरण-पोषण के हेतु जो कुछ किया वह उसके मातृत्व के कर्तव्यपक्ष के अन्तर्गत आता है। इस दृष्टि से वह

खिलाती है। वस्तुतः यह सब और कुछ नहीं उसके वंचित मातृत्व का जीवित रहने के हेतु दिशापरिवर्तन अथवा प्रयासमात्र भर है। उसके चरित्र में प्रधानता चरम मातृत्व की है परन्तु जीवनादर्शों के साथ उसका सतत संघर्ष चला रहता है और यही संघर्ष उसकी मृत्यु का कारण भी बनता है। वह पुत्र के लिए जीती रही है और पति के लिए प्राण त्याग गई है।

इस प्रकार, करुणा का चरित्र कर्त्तव्य उत्सर्ग धैर्य तथा वेदना की कहानी है। उसमें व्यापकता है विश्वसनीयता है और है आदर्श उपेक्षणीयता। करुणा सच्चे अर्थों में करुणा है। यही उसके चरित्र-चित्रण की सफलता एवं सार्थकता है।

(घ) राष्ट्रसेविका-रूप

सुखदा

'कर्मभूमि' प्रधानतः राजनीतिक उपन्यास है। उसके सर्व-प्रमुख नारी-पात्र 'सुखदा' की चरित्र निर्मिति भी देश-सेविका के रूप में ही अधिक हुई है। यही कारण है कि वर्गीकरण में हमने उसे राष्ट्रसेविका रूप के अन्तर्गत रखा है। वैसे उसके परिणीता-रूप का भी साथ-साथ ही महत्त्वपूर्ण प्रस्फुटन हुआ है। इस प्रकार सुखदा के चरित्र के दो रूप चित्रित हुए हैं—देशसेविका रूप प्रधानतः और परिणीता रूप अपेक्षाकृत गौणतः।

परिणीता-रूप में सुखदा के चरित्र के तीन पक्ष हैं—विलासिनी पक्ष, संस्कारगत मानवती पत्नी एवं त्यागिनी पक्ष। इन तीनों को उसकी विकास-यात्रा के तारतम्य के चरण भी कहा जा सकता है। प्रारम्भ में उसके विलासिनी-पक्ष की ही अभिव्यक्ति हुई है किन्तु धीरे धीरे जटिल परिस्थितियों के सम्पर्क में आकर उसने स्वयं को पहचाना है, संस्कारों का त्याग किया है और पति सामंजस्य को सर्वस्व माना है। विलासिनी के रूप में वह पति से बहुत दूर है, विवाह हुए दो साल हो चुके हैं पर दोनों में कोई सामंजस्य नहीं है दोनों के विचार अलग-अलग व्यवहार अलग संसार अलग है जैसे दो भिन्न जलवायु के जन्तु एक पिंजरे में बन्द कर दिये गए हैं। वह एक सम्पत्तिशालिनी विधवा की पुत्री है अभाव उसने कभी जाने नहीं हैं अतः स्वाभाविक है कि सहन-शीलता अथवा क्रियाशीलता भी इस रूप में उसके गुण नहीं हैं। वह पति से स्पष्ट कह देती है 'तुम बचपन से ठुकराये गए हो और कष्ट सहने के अभ्यस्त हो। मेरे लिए यह नया अनुभव है। इसके साथ ही ईंट का जवाब पत्थर से

ऐंठना भी उसने सीखा है। "सिकुड़ने और सिमटने का अभ्यास उसे नहीं है। "वह बोलते हैं तो मैं भी बोलती हूँ। मुझसे किसी की गुलामी न होगी" इसी भावना का उसमें प्राधान्य है। वह चाहती है कि हर कोई उसकी विचार-दिशा में अग्रसर हो, स्वयं उसे अपनी राह नहीं छोड़नी है। उसका पति मजदूरी करके उदरपूर्ति करे, यह उसे असह्य है। मजदूरी को वह परिश्रम का जीवन नहीं अपितु दूसरों की चाकरी समझती है। उसकी इच्छा है कि वह पति के साथ एक संकुचित दायरे में ही एक साधारण पत्नी के समान इच्छाओं की पूर्ति करती रहे—"मैं तो चाहती हूँ मुझे लेकर लखनऊ चले चलो और निश्चिन्त होकर पढ़ो।" इसके साथ ही टाकी-थियेटर जाने का भी उसे शौक है पति साथ न भी दे तो भी वह जायेगी ही क्योंकि उसकी जिद को झुकना आसान नहीं है। इस प्रकार यदि प्रेमचन्द के ही शब्दों में कहें तो सुखदा के विषय किसी रूप में 'त्याग की जगह भोग शील की जगह तेज और कोमल की जगह तीव्र का संस्कार हुआ है।" उसके चरित्र का दूसरा पक्ष है सुधारगत मानवती पक्ष। परिस्थितियों के सम्पर्क से उसने देखा है कि जिस संसार में वह मात्र एक पत्नी है वह तो जीवन-यथार्थ से बहुत ओझल है समाज में निर्धनता का हाहाकार वासनाओं की विमुक्त क्रीड़ा एवं उत्पीड़न जैसी कटु यथार्थ भी है। वह मन में सोच उठती है 'अत्याचारों को मिटाना होगा'। अतः वह पति के प्रति कुछ नरम पड़ती है। वह क्षोभ-मुक्त कर अमर से कहती है "इस घर में मेरा भाग्य तुम्हारे आधार पर है—जहाँ तुम रहोगे वहाँ मैं भी रहूँगी।" अपनी कर्तव्य-भावना को वह एक व्यापक आलोक में रखकर परखती है तो उसे पता चलता है कि सम्पत्ति का माता-पिता सन्तान समाज तथा देश के प्रति भी धर्म होता है। इसके साथ ही एक स्त्रीजनित व्यापक सहानुभूति का समावेश भी उसमें होता है। वह जानती है कि सकीना का उसके पति के साथ प्रेम-सम्बन्ध है पर आश्चर्य की बात यह है कि सकीना से उसे वैमनस्य भी तनिक नहीं है क्योंकि उसका अपना पति अब उसे छोड़कर देश-सेवा के निमित्त किसी अज्ञात स्थान पर चला गया है अतः वह सकीना को भी अपनी ही तरह, बल्कि अपने से भी अधिक दुखी समझती है। गोरों द्वारा मुन्नी के सतीत्व-हरण के उपरान्त वह उसे अपने पास रखने का जो उत्साह दिखाती है वह भी उसकी व्यापक सहानुभूति का ही परिचायक है। इस रूप में उसका वात्सल्य भी जागृत होता है। जिस शिशु को वह 'अपने हृदय का रक्त पिला-पिला कर पाल रही थी उसके जन्म के उपरान्त उसमें किशोरी की-सी चपलता तथा गर्भिणी की आलस्यमय कातरता' के स्थान पर 'माता का शान्त पुण्य मंगलमय विकास' ही शेष रह

जाता है। सकीना के सम्पर्क में आकर वह यह भी जान जाती है कि प्रेम अथवा पत्नीत्व का आधार श्रद्धा त्याग एवं विश्वास में होता है अतः अपने पिछले अभावों पर भी उसकी दृष्टि स्वतः ही जा पड़ती है। वह सोचती है मेरे हृदय में कभी इतनी श्रद्धा न हुई। मैंने उनसे हँसकर बोलने हास-परिहास करने और अपने रूप और यौवन के प्रदर्शन में ही अपने कर्त्तव्य का अन्त समझ लिया न कभी प्रेम किया न प्रेम पाया आज मुझे कुछ-कुछ ज्ञात हुआ कि मुझमें क्या त्रुटियाँ हैं। यह आत्मग्लानि ही वस्तुतः व्यक्ति के जीवन में मोड़ लाया करती है। परन्तु इससे यह तात्पर्य नहीं कि सुखदा निरन्तर दैन्य-भावना से दुखी जाती है नहीं पति से कोसों दूर रहती हुई भी वह मानिनी एवं आत्माभिमानिनी है। वह सकीना से कहती है "अब तो जब तक उनकी तरफ से हाथ न बढ़ाया जायेगा मैं अपना हाथ नहीं बढ़ा सकती चाहे सारी जिन्दगी इसी दशा में पड़ी रहूँ। औरत निर्बल है और इसीलिये उसे मान-अपमान का दुःख भी ज्यादा होता है। मान की यह भावना ही अपने गम्भीर रूप में व्यक्तिगत जीवन की आत्म-सम्मान अथवा आत्माभिमान की भावना बना करती है। नैना की मुंहराल में वह जिस आतंक के साथ वर्त कर आती है वह घटना उसके उन्नत आत्माभिमान की प्रबल साक्षी है। इसके अतिरिक्त सुखदा को अब आभूषण आदि विलास-प्रसाधनों के प्रति भी ममत्व नहीं है। वह कहती है रोटियों में ज्यादा खर्च नहीं होता खर्च होता है आडम्बर में। एक बार अमीरी की शान छोड़ दो फिर चार आने पैसे में काम चलता है।" संक्षेपतः यही है सुखदा का सुधारगत मानवती-रूप जिसमें विलास संस्कारों का पूर्णरूपेण मंगल-दिशा की ओर प्रवर्तन हुआ है और जिसमें कर्त्तव्योन्मुखता ईर्ष्याहीन व्यापक सहानुभूति मानाभिमान वात्सल्य त्याग श्रद्धा विश्वास एवं आत्म-ज्ञान आदि विशेषताओं का समाहार हुआ है। सुखदा के पत्नीत्व का तीसरा तथा सर्वोत्तम पक्ष है उसका स्वामिनी अथवा उत्सर्ग प्रधान पक्ष। देश-सेविका का कार्य निभाती हुई भी वह पति के विरह में तपी है रातों को रोई भी है और परोक्षतः पति-दर्शन के लिए लालायित भी रही है। इस रूप में पश्चाताप तथा समर्पण की राह से पति के साथ पूर्णरूपेण समंजित होना ही उसके चरित्र की सर्वप्रमुख विशेषता है। वह अपने श्वसुर से कहती है "मैंने यहाँ एकान्त में इस प्रश्न (असामञ्जस्य) पर खूब विचार किया है और मुझे अपना दोष स्वीकार करने में लेशमात्र भी संकोच नहीं है। आप एक क्षण भी यहाँ न ठहरें। वहाँ जाकर अधिकारियों से मिलें और उनके (बन्दी पति) लिए जो कुछ भी हो सके करें। हमने उनकी विमाल तपस्वी

आत्मा को मोह के बन्धनों में बाँध कर रखना चाहा था आज मुझे मालूम हो रहा है वह मेरा परम सौभाग्य था'। यह सुनन्दा का परम पति-भक्ति रूप है। जेल से छूट कर जब उसका पति से मिलन होता है तो उसे लगता है "आज उसकी रिक्ति में जैसे मधुमास भर गया है, वह प्रफुल्लता जैसे पल्लवित हो गई है। आज उसने पुरुष के प्रेम में अपने नारीत्व को पाया है। उसके हृदय से लिपट कर अपने को खो देने के लिए आज उसके प्राण कितने व्याकुल हो रहे हैं। आज उसकी तपस्या मानों फलीभूत हो गई है। भारतीय संस्कृति के अनुसार यही है सर्वोत्तम दाम्पत्य-कल्पना अर्धांगिनी तथा अर्धनारीश्वर की मान्यता।

राष्ट्रसेविका के रूप में सुखदा की सबसे प्रमुख विशेषता यह है कि वह थकना नहीं जानती है। उसमें एक असाधारण क्रियाशीलता तथा प्राणवत्ता समाहित है। हड़तालों के व्यस्त आयोजन तथा गोलियों की बौछारों में भी वह अविचल रहती है। निराशा आती है पर सुखदा को छू कर निकल जाती है मानो किसी अग्निस्फुलिंग का स्पर्श कर लिया हो। उसका विश्वास है कि "बिना तकलीफ उठाये आराम नहीं मिलता।" हड़ताल के लिए जब सकती की क्रिया शीलता को देखकर ही अमरनाथ कहता है "बहू जी ने ढेर का ढेर रुपया पाया है।" जैसा जब वह शान्त आश्वासन दिखाती हुई कहती है कि समय आने पर गरीबों के घर भी बन जायेंगे तो वह इस निष्क्रिय भाग्यवादिता को ठुकराती हुई कहती है "यह तो कायरों की नीति है पुरुषार्थ वह है जो समय को अपने अनुकूल बनाये।" उसकी जेल-यात्रा भी एक अदम्य प्राणवत्ता ही का परिणाम है। यह उसकी दूसरी विशेषता यह है कि वह अन्याय को सहन नहीं कर सकती। यह वृत्ति तो आरम्भ से ही उसमें विद्यमान है। मुन्नी ने अपने सतीत्व के अपहरण का बदला लिया—सुखदा के अनुसार "अगर उसको फाँसी हो गई तो मैं समझूँगी संसार से न्याय उठ गया। उसने कोई अपराध नहीं किया। जिन दुष्टों ने उस पर ऐसा अत्याचार किया उन्हें यही दण्ड मिलना चाहिये। अन्याय के प्रति इस असहनशीलता का ही परिणाम है कि वह अपने पति की अपेक्षा अपने राजनीतिक सिद्धान्तों में सहनशील नहीं है। गरीबों की एक बस्ती बनाने में उसमें भी जब लाल स्वाथ क्यों बाधायें आ रही होती हैं तो वह मन है और उसमें भी जब लाल स्वाथ क्यों बाधायें डालती हैं वो वह अब कापती हुई कहती है कि समाचार-पत्रों और आन्दोलनों से काम नहीं चलेगा "नहीं मैं इतनी सहनशील नहीं हूँ—अब अपनी शक्ति का प्रदर्शन करना पड़ेगा" हमने आरजू-मिन्नत से काम निकालना चाहा था पर मालूम हुआ सीधी उँगली से घी नहीं निकलता। हम जितना दबेंगे ये उतना ही हमें

उतना ही दबायेंगे। पर इसका यह तात्पर्य नहीं कि सुखदा हिंसा में विश्वास रखती है। वह गांधी-युग में पैदा हुई है। साधनों को उतना ही महत्त्वपूर्ण तथा निर्माणात्मक समझती है जितना कि साध्य को। वह कहती है "दस-बीस प्राणियों की आहुति देनी पड़ेगी तब लोगों की आँखें खुलेंगी।" इस प्रकार वह अन्याय के प्रति विद्रोहिणी तो है किन्तु हिंसा की अपेक्षा बलिदान को अधिक महत्त्व देती है। इसके साथ ही एक आशावादिता भी उसमें विद्यमान है। वह यह कभी नहीं सोचती कि दमन से न्याय दब जायेगा। उसका विश्वास है कि दमन से न्याय और भी उभरता है उसी प्रकार जिस प्रकार चोट लगने पर गेंद की गति में और भी उभार आ जाता है। नैतिकता पर भी वह बल देती है। नशेबाजी तथा घूँसखोरी आदि को वह अत्यन्त हेय समझती है। स्वयं उसने ऐश्वर्य को छोड़ कर निर्धनों की कतारों में स्थान लिया है अतः त्याग की दिशा में भी उस की आस्था है। त्याग उसके चरित्र का महत्त्वपूर्ण अंग है। उसका विश्वास है कि त्याग के बिना व्यक्ति दूसरे को प्रभावित नहीं कर सकता अतः अपनी आदर्श प्राप्ति में असफल रहता है। निर्धनों का उत्थान निर्धनों की सी अनुभूति से ही किया जा सकता है। "मैं इस घर में रहकर और अमीर का ठाठ रखकर जनता के दिलों पर काबू नहीं पा सकती। मुझे त्याग करना पड़ेगा" —यह सोच कर ही वह साधारण व्यवहार में तो क्या कारावास में भी नौकरानी को हटा देती है और मैट्रन से स्पष्ट कहती है "मैं अब किसी तरह की रियायत नहीं चाहती। मैं चाहती हूँ कि मुझे मामूली कैदियों की तरह रखा जाय।" त्याग के साथ ही सेवा तथा दया के भाव भी त्याग के भावात्मक रूप में उसके चरित्र में विद्यमान हैं। सेवाश्रम की शाखायें वह प्रत्येक मोहल्ले में खुलवाती है और निर्धनों की दशा देखकर उसकी दयाभावना भी उमड़ आती है। "कल की सुखदा और आज की सुखदा में कितना अन्तर हो गया है? भोग और विलास पर प्राण देने वाली रमणी आज सेवा और दया की मूर्ति बनी हुई है।" इसके अतिरिक्त राष्ट्रसेविका रूप में सुखदा महत्त्वाकांक्षिणी तो अवश्य है परन्तु मिथ्याभिमानिनी नहीं। उसकी आत्म-गरिमा में भी एक नम्रता व्याप्त है। वह मन्दिर का शिलान्यास करती है, "पग-पग पर उसके नाम की जय जय कार होती है किन्तु साथ ही वह स्त्रियों से गले मिलती है बालकों को प्यार करती है और पुरुषों को प्रणाम करती है।" व्यक्तिगत जीवन में भी सुखदा अब अधिक गम्भीर एवं अध्ययनशीला हो गई है। उपन्यासों की अपेक्षा उसे इतिहास और दार्शनिक विषयों में रस मिलता है, अतः उसके भाषण भी सार गर्भित होते हैं।

वस्तुतः सुखदा का राष्ट्रसेविका-रूप उसके परिणीता-रूप की परिपूर्ति भी है। इसके बिना पति के साथ उसका सामंजस्य सम्भव नहीं था। प्रेमचन्द ने अभिव्यक्ति में उसके देशसेविका-रूप को अधिक प्राधान्य देते हुए भी बड़े कौशल से यह दिखाया है कि पति और पत्नी दोनों मानवीय मूल्यों के सहारे ही परस्पर विकास के प्रेरक बन सकते हैं। किन्तु इसमें भी अधिक युग-धर्म के निर्वाह को उन्होंने सुखदा के चरित्र-माध्यम से महत्त्व दिया है। अन्याय तथा शोषण के प्रति सुखदा की तीव्र विद्रोह-ध्वनि यूरोप में उन दिनों के उठते हुए फासिस्टवाद तथा अस्त होते हुए पूँजीवाद की छाप को लिये हुए है। हिटलर और मुसोलिनी का व्यक्तिवाद चरमखण्ड को प्राप्त हो चुका था और भारत में अंग्रेजी साम्राज्यवाद अनेक प्रतिक्रियाओं का सामना करते हुए छिन्नप्राय हो रहा था। युग के इसी विद्रोह का आदर्शीकरण प्रेमचन्द ने सुखदा के चरित्र में किया है। सुखदा में युग-धर्म भी है और शाश्वत मानवीय मूल्य भी—इस दृष्टि से वह एक अत्यन्त सशक्त चरित्र है।

मृदुला

'जेल' कहानी की मृदुला की परम विकसित राग तथा उत्साह-वृत्तियों को देखते ही बनता है। जीवन की सम्पूर्ण वेदनाओं को उसने देश प्रेम में डुबा दिया है। पति सास तथा नन्हें पुत्र का उत्सर्ग कर देने के उपरान्त भी वह जीवित है इसलिये कि जीवन में उसकी अनन्य आस्था है, ऐसे जीवन में जिसका लक्ष्य देश-सेवा के विशाल प्रासाद की निर्मिति के हेतु दीवारों में चुन जाना होता है। उसे याद है सास अपनी ओजस्वी भाषा में कहा करती थी [illegible] अंग्रेजी कम्पनी में नौकर होते हुए भी उसके पति ने देश प्रेम में प्राणाहुति दी थी और यह भी कि उसकी वृद्धा सास पुराने विचारों की होती हुई भी पुत्र का अनुगमन कर गई थी। आज वे सब नहीं हैं, किन्तु मृदुला ने जीवन से पलायन नहीं किया है, अपितु अपने मातृत्व अपने पत्नीत्व अपने पारिवारिक कर्त्तव्य अपने सर्वस्व को उसने एक सीमित परिवार से निकाल कर राष्ट्र-परिवार की ओर उन्मुख कर दिया है।

मृदुला जानती है कि अन्याय के हाथ बहुत लम्बे हैं। 'प्रजा की तो हर तरह से मरन है। अगर दस-बीस आदमी जमा हो जाते हैं तो पोलीस कहती है हमसे लड़ने आते हैं। उन्हें भगाने कुछ करती है और अगर कोई आदमी क्रोध में आकर एकाध कंकड़ फेंक देता है तो गोलियाँ चला देती है' किन्तु वह यह भी जानती है कि प्रजा में अटूट उत्साह तथा परस्पर सहानुभूति विद्यमान

उठती है 'मैं तो उनके सामने बावली-सी हो जाती हूँ' कभी गोपिका की भाँति ज्ञानशंकर रूपी कृष्ण के ध्यान में अचेत-सी हो जाती है—उनकी सूरत उसकी आँखों में फिरा करती है उनकी बातें कानों में गूँजा करती हैं। कितना मनोहर स्वरूप है कितनी रसीली बातें! साक्षात् कृष्ण स्वरूप हैं कभी पिता को भी मार्ग का पत्थर समझती हुई स्वयं ही बड़बड़ाने लगती है "पिताजी उनसे नाराज हैं तो हुआ करें। मैं क्यों प्रेमनीति से मुँह मोड़ूँ? प्रेम का संबंध केवल दो हृदयों से है किसी तीसरे प्राणी को उसमें हस्तक्षेप करने का अधिकार नहीं" कभी इतनी उत्तेजित हो जाती है कि ज्ञानशंकर के मुँह पर ही कहने लगती है 'प्रियतम मेरी भी यही दशा है। मैं भी इसी ताप से फुँक रही हूँ। यह तन और मन सब तुम्हारी भेंट है"—और फिर ऐसा अवसर भी आता है जब गायत्री ज्ञानशंकर के आलिंगन-पाश में आबद्ध हो जाती है किन्तु इससे आगे वह नहीं जा पाती क्योंकि उसकी विलासवृत्ति का एक नैतिक पक्ष भी है जिसे उसने छिपकाये रखने पर भी उसने बार-बार जिसकी अवहेलना अवश्य की है पर तिलांजलि नहीं दी और असमर्पित एवं अबाध यौनाकांक्षा से अधिक महत्त्व भी जिसे दिया है। धर्मभीरुता उसके इस नैतिक पक्ष का प्रधान अंग है। मृत पति की स्मृति को पावनता से संजोये रखना वह अपना अनिवार्य कर्त्तव्य समझती है। "वह प्रेम का रस-पान कर चुकी थी उसकी शीतल दाह और मुखद पीड़ा का स्वाद चख चुकी थी पर सतीत्व रक्षा की आन्तरिक प्रेरणा अभी सक्षम न हुई थी। इसी भावना से प्रेरित होकर वह ज्ञानशंकर को 'छोटे भाई के तुल्य' समझने का प्रयास भी करती है और फिर वह यह भी तो सोचती है कि हिन्दू-विधवा के भावों के प्रतिकूल है यह सब—"मेरे लिए अब तीर्थ-यात्रा गंगा-स्नान पूजा-पाठ दान और व्रत है। यह विहार-विलास सोहागिन के लिए है।" तब वह धार्मिक आयोजनों की ओर भी प्रवृत्त होती है। पर यह सब कुछ होते हुए भी वह बार-बार भूल कर जाती है। यौन-वृत्ति का अस्वाभाविक निरोध उसे निरन्तर एक कृत्रिम समझौते की ओर ले जाना चाहता है—बनारस प्रयाग हरिद्वार ऋषीकेश चित्रकूट तथा बद्रीनाथ के मार्ग पर अग्रसर होने को बाध्य करता है किन्तु सर्वस्व-त्याग के उपरान्त भी वह मृत्यु पर्यन्त जीवन के साथ एक प्रशान्त तथा गम्भीर समझौता नहीं कर पाती। काम-कुण्ठाएँ जैसे उसका पीछा ही नहीं छोड़ती हैं। इस प्रकार गायत्री की विलासवृत्ति में काम-भावना तथा नैतिकता का अदम्य संघर्ष विद्यमान है और यद्यपि प्रेमचन्द ने अपनी नैतिक अथवा उपयोगितावादी दृष्टि के परिणामस्वरूप नैतिकता ही को प्राधान्य दिया है तथापि यौन-भावना को भी उन्होंने कम

महत्वपूर्ण नहीं समझा है। गायत्री के माध्यम से मानो उन्होंने समाज को संकेत किया है कि गायत्री तो लाखे-करोड़ों में कभी ही निकलती है किन्तु हर विधवा गायत्री नहीं होती।

गायत्री के चरित्र की एक महत्वपूर्ण विशेषता यह भी है कि वह सक्रियता को ही कर्म नहीं अपितु भावना अथवा सोच-विचार को भी कर्म समझती है। उसका पश्चात्ताप इन दोनों प्रकार के कर्मों की फलानुरूपता में विश्वास का ही परिणाम है। अपनी "विडम्बना उसके लिए सहस्रों उपदेशों से अधिक शिक्षाप्रद और कल्याणकारी थी।" प्रेमचन्द ने सुमन के चरित्र की भांति ही यहाँ यह भी दिखाया है कि सत्संगति में आकर प्रबलतम संस्कारों को भी एक नवीन दिशा दी जा सकती है। श्रद्धा के सम्पर्क में आकर गायत्री भी श्रद्धामय हो जाती है और प्रण करती है "अब से यह जीवन त्याग और पश्चात्ताप पर समर्पण होगा। मैं अपनी रियासत से इस्तीफा दे देती हूँ मेरा उस पर कोई अधिकार नहीं है।" परन्तु यह एक विडम्बना होती है कि दैवयोग से कुसंगति में पड़ने और पुनः सन्मार्ग पर आने के उपरान्त भी आदर्शवादी चरित्र आत्म-ग्लानि से विमुक्त नहीं हो पाते अतः जीवन उनके लिए प्रायः समझौते का शेष नहीं रह जाता। गायत्री के पश्चात्ताप में भी आत्मग्लानि ही अधिक सकती है।

गायत्री भावुक है अतः उदार भी है। अनुदार अथवा शोषक होना चाहकर भी वह नहीं हो पाती है। पहले तो वह सोचती है कि लगान की "छूट" भी हो जाए मगर रूखी आसामियों से ही" परन्तु पुनः विचार करती है "पेट को गरीबों की हाय से भरना तो अच्छा नहीं।" हलवाई बावर्चों और खानसामे से लेकर मैनेजर तक किसी को भी वह असन्तुष्ट नहीं करती है। वह मजदूरी में वृद्धि करने को भी तत्पर हो जाती है मगर की नई पाठशालाओं का निरीक्षण करके विद्या (अनुजा) के नाम पर पारितोषिक देने के लिए रुपये भी दे जाती है। गायत्री को जो लोग शोषक वर्ग में रखते हैं वह सम्भवतः गायत्री के इस उदार अन्तरंग को विस्मृत कर देते हैं और साथ ही वह भी भूल जाते हैं कि कभी शोषकों जैसा लोभ उसके मन में स्थान पाता भी है तो वह स्थायी नहीं होता— वह तो उसके कुंठित एवं निस्सहाय नारीत्व का विक्षोभ मात्र है। दूसरी ओर, गायत्री उदाहरणार्थ है इसका यह तात्पर्य भी नहीं है कि उसमें विचारों का निर्बाध स्वातन्त्र्य है। वह सनातन धर्म में विश्वास रखने वाली विधवा है अतः वह एक सीमा तक व्यक्तिगत विचारों को बांध कर रखने में भी अपना तथा समाज का कल्याण समझती है। यही कारण है कि उसे पाश्चात्य समाज तथा

सभ्यता से घृणा है। जिस विचार-स्वातन्त्र्य के कारण दाम्पत्य खण्डित होता हो गायत्री के अनुसार "ईश्वर वह कुदिन यहाँ न लाए जब लोगों में विचार-स्वातन्त्र्य का इतना प्रकोप हो जाए" ऐसी दशा में पश्चिम वालों का अनुसरण करना नादानी है। अनाथा की गुलामी इच्छाओं की गुलामी से श्रेष्ठ है।

गायत्री स्वभावतः गर्विता है अतः आत्मप्रशंसा की लालसा भी उसे है। गर्विता तो वह इतनी है कि उसके समक्ष पिता तथा प्रेमपात्र तक को तुच्छ समझती है। वह अभिमान की पुतली है, अपने रूप पर भी उसे अभिमान है किन्तु प्रेमचन्द के शब्दों में "खुशामद अभिमान का सिर नीचा कर देती है।" 'गायत्रीदेवी' लेख को पढ़कर वह फूली नहीं समाती उसका अनुवाद करके कृषकों को सुनाती है। सब कुछ त्याग करने की इच्छा रखती हुई भी वह कहती है 'हाँ' यह लालसा अवश्य है कि मेरी स्मृति बनी रहे मेरा नाम अमर हो जाए, लोग मेरे यश और कीर्ति की चर्चा करते रहें। यही चिन्ता है जो अब तक मेरे पैरों की बेड़ी बनी हुई है।

गायत्री में "रमणीयता और लालित्य के साथ पुरुषों का-सा धैर्य भी है।" वह कोमलांगिनी है किन्तु 'कच्ची सड़कों के गर्द और धूप से भी' भागती नहीं है। वह अपने विलास भवन में बहुत कम आरामपूर्वक बैठती है कभी इस गाँव जाती है कभी उस छावनी में ठहरती है कभी शहर जाना पड़ता है तो कभी निरन्तर अधिकारियों से मेलजोल की आवश्यकता पड़ती है। वह अपने इलाके के समस्त ग्रामों की दशा स्वयं दौरे पर जाकर देखती है। उसके जीवन में एक सक्रियता है।

किन्तु गायत्री के चरित्र-चित्रण में अनेक दोष भी परिलक्षित होते हैं जिनमें से दो तो अत्यन्त स्पष्ट है। इनका उत्तरदायित्व गायत्री पर नहीं अपितु प्रेमचन्द पर है। उसके चित्रण की पहली त्रुटि है उसका अस्वाभाविक अन्त। उसे आत्मग्लानि में तपा कर जीवित भी रखा जा सकता था। दूसरा दोष है उसकी चित्रण विधि में जो कि नाटकीय नहीं अपितु विश्लेषणात्मक है; गायत्री को स्वयं बहुत कम कहना पड़ता है प्रेमचन्द स्वयं ही उसकी वकालत अधिक करते हैं यही कारण है कि गायत्री की विलास-वृत्ति को चुनौती तो मिलती रही है किन्तु एक तीव्र अन्तर्द्वन्द्व का रूप वह धारण नहीं कर पाती। और फिर इन दोनों दोषों का कारण भी स्पष्ट है। ऐसा न करने से तो अकेली गायत्री के लिए ही एक 'प्रेमाश्रम' की आवश्यकता होती। फिर कैसे सम्भव था कि 'प्रेमाश्रम' पर गायत्री ही का आधिपत्य होता। कई बार तो प्रेमचन्द की यह विवशता बहुत ही अखरती है।

कैलासी

विधवा-विवाह के प्रेमचन्द कितने पक्षपाती हैं—इसका सबलतम प्रमाण 'नैराश्यलीला' कहानी की कैलासी है। गायत्री में जो संकेत अस्फुट रहा है कैलासी में उसकी यथेष्ट अभिव्यक्ति हुई है। रूढ़ि-ग्रस्त समाज में किस प्रकार पूर्ण-यौवना विधवा के माता-पिता चाह कर भी उसके पुनर्विवाह की कल्पना को अधरों तक नहीं ला पाते—यह दिखाना ही प्रेमचन्द का यहाँ अभीष्ट है। साथ ही इंगित इस ओर भी है कि आज नहीं तो कल समाज-स्वास्थ्य के हेतु, इस नैसर्गिक आवश्यकता को जबान पर लाना ही पड़ेगा।

नैराश्य कैलासी के चरित्र का सर्वप्रधान अंग है। इस नैराश्य का मूल है काम-कुण्ठा। "कैलासी कुमारी का अभी गौना भी न हुआ था वह अभी तक यह भी न जानने पाई थी कि विवाह का आशय क्या है कि उसका सोहाग उठ गया। वैधव्य ने उसके जीवन की अभिलाषाओं का दीपक बुझा दिया।" तेरह वर्ष की इस विधवा के उपचेतन में ही निराशा घर करना आरम्भ कर देती है। माँ-बाप एवं सगे सम्बन्धियों का प्रेम नहीं अपितु सम वेदना और सहानुभूति के अश्रु ही उसे नसीब होते हैं। परिणामस्वरूप अल्प वय में ही कैलासी एकान्तप्रिय हो जाती है। घर के कोने में बैठी किस्से कहानियाँ पढ़ती रहती है।

एकान्तप्रियता के उपरान्त कैलासी के जीवन में विलास का आगमन होता है। उसकी एकान्तप्रियता को जीवन का सूनापन न समझ कर उसके माता पिता उसे पति-शोक के रूप में गलत ग्रहण करते हैं। अतः उसके मनःप्रसादन के लिये विभिन्न विलास-सामग्रियाँ जुटाई जाती हैं। वह सैरसपाटे की इतनी आदी हो जाती है कि एक दिन भी थियेटर न जाने से बेकल-सी होने लगती है। इस विलासिनी रूप में उसके चरित्र में प्राणियों के प्रति असहानुभूति उच्छृंखलता तथा कुरुचि-गर्व आदि की भावनाओं का प्रस्फुटन होता है। परिणाम स्वरूप मोहल्ले के लोग आवाजें कसने लगते हैं और उसके माता-पिता सभी प्रकार के विनोद प्रसाधनों को उसके लिए अप्राप्य करने पर बाध्य हो जाते हैं। कैलासी का विलासिनी रूप भी नैराश्य में खो जाता है।

अब कैलासी लगभग सोलह साल की है किन्तु जीवन के जिस काल में वासनायें अधिक तीव्रवेग से जागृत होती हैं उसमें अस्वाभाविक रूप से उसे पुण्-दीक्षा दी जाती है। उसे समझाया जाता है कि वैधव्य पूर्व-कर्मों का फल एवं उनके प्रायश्चित का अवसर विशेष होता है। वह सोचने लगती है 'वैधव्य यातना नहीं है जीवनोद्धार का साधन है। मेरा उद्धार त्याग विराग भक्ति

और उपासना ही में होगा।" अतः पुरुषोचिता रूप में वह एकान्त साधना की ओर अग्रसर होती है और एक दिन ऐसा भी आता है जब कि वह संन्यास धारण करने का पूर्ण निश्चय कर लेती है। परन्तु उसका यह रूप भी स्थिर नहीं है अनैसर्गिकता स्थिर हो भी कैसे सकती है। समाज को भी पुनः चिन्ता हो जाती है और निश्चय किया जाता है कि संन्यासिनी होने से तो अध्यापिका होना ही अधिक श्रेयस्कर है क्योंकि संन्यास तो समाजनिरपेक्ष आचरण की दिशा है निवृत्ति है। अतः कैलासी का यह पक्ष भी निराशामय है।

उन्नीस साल की कैलासी अब सेवाव्रतधारिणी अध्यापिका है। उसकी सेवा-प्रवृत्ति दिनोदिन तीव्र होने लगती है। पाठशाला परिवार का रूप धारण कर लेती है। परन्तु किसी भी छात्रा की रुग्णावस्था में जब वह रात रात भर उसके सिरहाने बैठी रहती है भोजन की परोसी थाली पड़ी रहती है तो घर वालों को अबोध लड़की के उन्माद की पुनः चिन्ता होती है और परिणाम स्वरूप पाठशाला बन्द हो जाती है। कैलासी की निराशा अब इस सीमा पर पहुँचती है कि वह हँसी-हँसी में कहने भी लगती है 'मर जाऊँगी तो आपके सिर से एक विपत्ति टल जायेगी।

इस प्रकार हम देखते हैं कि कैलासी के प्रत्येक चरित्र रूप का परिणाम नैराश्य ही होता है। वस्तुतः मनुष्य शील-वृत्ति के विना परिवर्तन के सभी अवान्तर प्रयास अतिवाद की सीमा को छू जाया करते हैं। अतिवादिता में एकांगी अस्वाभाविकता विद्यमान होती है अतः वह अन्ततः श्रेयस्कर नहीं होती। पुनर्विवाहिता होकर यदि कैलासी सेवा अथवा त्याग की दिशा में अग्रसर होती तो निश्चय ही उसकी सेवा आदि में अधिक स्थिरता तथा अधिक स्वाभाविकता होती।

सर्वांगीण निराशा आत्मघात कुमार्ग अथवा विद्रोह का निर्देशन किया करती है। मानकी की मृत्यु का कारण भी यही निराशा थी पर कैलासी का नैराश्य उसे विद्रोह की ओर उन्मुख करता है। कैलासी में अब अधिक सहन करने की सामर्थ्य नहीं है। वह विक्षुब्ध होकर चिल्ला उठती है, "कुछ मालूम भी तो हो कि संसार मुझ से क्या चाहता है। मुझ में जीव है चेतना है जड़ क्योंकर बन जाऊँ। मुझ से यह नहीं हो सकता कि अपने को अभागिनी दुखिया समझूँ और एक टुकड़ा रोटी खाकर पड़ी रहूँ। ऐसा क्यों करूँ। संसार मुझे जो चाहे समझे मैं अपने को अभागिनी नहीं समझती। मैं अपने आत्म सम्मान की रक्षा आप कर सकती हूँ। मैं इसे अपना घोर अपमान समझती हूँ कि पग-पग पर मुझ पर शंका की जाय नित्य कोई चरवाहों की भाँति मेरे पीछे लाठी

लिए घूमता रहे कि किसी खंड में न आ पड़ूँ। यह दशा मेरे लिए असह्य है। बीस वर्ष की पूर्ण-यौवना कैलासी को जब अपनी बेकसी का यथार्थ ज्ञान होने लगता है। "स्त्री पुरुष की कितनी अधीन है मानो स्त्री को विधाता ने इसी लिये बनाया है कि पुरुषों के अधीन रहे। यह सोचकर वह समाज के अत्याचार पर दाँत पीसने लगती थी। इसी दाँत पीसने का परिणाम होता है कि एक दिन कैलासी सुन्दर केश-विन्यास करती है और जूड़े में गुलाब का फूल भी लगाती है दूसरे दिन रंगीन रेशमी साड़ी पहन लेती है और तीसरे दिन उपवास व्रत आदि से भी उसका विश्वास उठ जाता है—अन्ततः उसे विवाह के नाम से भी घृणा हो जाती है; "बरातों को वह शिकारियों के कुत्ते समझती है और विवाह को स्त्री का बलिदान"। परन्तु कैलासी की यह विद्रोह-भावना उच्चकोटि की भावना नहीं है क्योंकि इसका मूल आत्म-सम्मान में नहीं अपितु नैराश्य में विद्यमान है। प्रेमचन्द के शब्दों में यह विद्रोह "नैराश्य की अन्तिम अवस्था" ही है।

इस प्रकार कैलासी का चरित्र वस्तुतः ही एक नैराश्य-लीला है। प्रेमचन्द ने अत्यन्त सुन्दर रूप में यह स्पष्ट किया है कि वह एक नाविकविहीन नौका के समान है उसकी जीवन-नौका नैराश्य-सागर में आँधी के प्रवाह में डगमगाती ही रहेगी—दूसरे शब्दों में उसके नैराश्य-हरण का एकमात्र स्वच्छन्द उपाय विवाह ही है।

प्यारी

'स्वामिनी' कहानी की प्यारी साधारण स्तर की एक ग्रामीण कृषक-विधवा है। प्रेमचन्द ने उसके माध्यम से यह स्पष्ट किया है कि विधवा के लिए जीवन-क्षेत्र में किसी आधार का होना अनिवार्य होता है। व्यंजना इस बात की भी हुई है कि सामाजिक स्तर की दृष्टि से प्यारी अपठित एवं मानकी तथा कैलासी की अपेक्षा कहीं अधिक निम्नवर्गीय होते हुए भी सबला एवं स्वतन्त्र है। उच्चवर्गीय परम्परा-जीवी होता है, विधि-निषेधों की जर्जर मान्यताओं से चिपका रहता है, अतः विधवा को बहुधा आपदा का कारण तथा कभी-कभी पापमात्र समझा करता है। इसके विपरीत कृषकों का निर्धन समाज अन्तर्जातीय संघर्षरत एवं परिश्रमजीवी होता है अतः विधवा ही नहीं प्रत्येक हाथ बढ़ाने वाले प्राणी की उसे आवश्यकता हुआ करती है।

प्यारी के वैधव्य के दो पक्ष हैं—साधलम्ब अथवा भावात्मक पक्ष। तथा निरवलम्ब अथवा अभावात्मक पक्ष। प्रथम पक्ष के अन्तर्गत उसका

स्वामिनी बन जाता है। विधवा होती हुई भी वह गृह-स्वामिनी बनी रहे यह गर्व भावना भी उसके लिए पति के सम्मान का सब से बड़ा अवलम्ब है। परन्तु उसकी यह अधिकारेच्छा सर्प की फुफकार नहीं अपितु मानवतावादी व्यापकता की पर्याय है। उसके लिए स्वामित्व का अर्थ है अथक परिश्रम। श्वसुर से बंटवारे की कुंजी पाने के उपरान्त वह भावेशिका की भाँति निठल्ली नहीं बैठती वरन् तन-मन-धन से गृह प्रबन्ध की सुचारुता में जुट जाती है। वह 'न खुद विश्राम लेती है न दूसरों को लेने देती है।" उसके इस परिश्रम के फलस्वरूप ही परिवार में "भोजन पहले से अच्छा मिलता है, और समय पर मिलता है। दूध अधिक होता है घी अधिक होता है और काम अधिक होता है। प्यारी के स्वामित्व का अर्थ है कर्तव्य-पूर्ति निष्काम-सी कर्तव्य-पूर्ति पराये सुख में आत्म-सुख की भावना। श्वसुर विश्वास लाख समझाता है कि भाई भौजाई किसी के नहीं होते पर वह उत्तर में निरीह-सी इतना ही कहती है, "जो अपने हैं वे भी न पूछें तो अपने ही रहते हैं। मेरा धर्म मेरे साथ है, उनका धर्म उनके साथ है। मर जाऊँगी तो क्या छाती पर लाद कर ले जाऊँगी ? प्यारी के स्वामित्व का अर्थ है त्याग। जिन आभूषणों के लिए नारी-धर्म आकाश-पाताल एक कर देता है वह गृहस्थी के संचालन में उन्हीं का व्यय तथा उत्सर्ग करती है। अपने लिए तो वह कभी कुछ रखती ही नहीं पर दुलारी बहन (देवरानी जी) की ज्योंही कड़ों की चाह होती है वह उसके व्यंग्य-बाणों का शिकार बनती हुई भी किसी न किसी प्रकार कड़े बना ही देती है। घर में सभी सुखी हैं सभी उसके हैं, 'हाँ अगर कोई दुःखी है, चिन्तित तथा मलिनवेष में है तो वह प्यारी है।"वस्तुतः जिस समाज में प्यारी रहती है उसकी दृष्टि से पारिवारिक त्याग तक की ऊँचाई भी अत्यन्त महत्वपूर्ण होती है। प्यारी के स्वामित्व का अर्थ है लोकमर्यादा पालन तथा समाज में अपनी सम्मान रक्षा। साधारणतः वह मितव्ययिनी है पर जहाँ इज्जत की बात आ जाती है वह दिल खोलकर खर्च करती है। अगर गाँव में हँसी हो गई तो क्या बात रही। लोग उसी का नाम तो धरेंगे। दुलारी के पुत्र-जन्म पर वह भविष्य की चिन्ताओं से विमुक्त-सी होकर धूमधाम से उसके जन्मोत्सव का प्रस्ताव करती है। प्यारी के स्वामित्व का अर्थ है सहनशीलता। दुलारी दुलारी का पति मथुरा और कभी-कभी श्वसुर भी सभी उसकी भाव *नाओं का गलत विश्लेषण करते हैं। जिसकी भी माँग की पूर्ति अविलम्ब नहीं* होती वही उसके सिर पर सवार हो जाता है। उसकी बहन तो ईर्ष्यावश उसकी महत्ता तक नहीं रखती। "घर के सभी आदमी अपने-अपने अवसर पर प्यारी को दो-चार खोटी-खरी सुना जाते हैं और वह गरीब सौत हँसकर सहती है।

उसकी स्वामित्व-कल्पना तो इन भावनाओं से और भी स्वस्थ होती है।" प्यारी के स्वामित्व का अर्थ है ममता। ममता का दृढ़ बन्धन ही उसे परिवार से बाँधे रहता है, किन्तु श्वसुर की मृत्यु के उपरान्त जब मथुरा तथा दुलारी बाल-बच्चों समेत परदेश की राह लेने लगते हैं और दुलारी की यह इच्छा होती है कि उस स्थान पर आनन्द से निवास करें जहाँ प्यारी न हो तो उसका हृदय कचोट खाकर रह जाता है। उसने तो इन सबको स्वामिनी की-सी प्रताड़नायें नहीं माँ का सा प्यार दिया है और आज जब वे निर्मोही उसके सम्पूर्ण ममत्व को ठुकरा कर जा रहे हैं 'उसके जी में आता है वह भी इसी भाँति निर्द्वन्द्व रहे, मोह और ममता को पैरों से कुचल डाले' किन्तु वह ममता जिस जाव को खाकर पली थी उसे अपने सामने से हटाये जाते देखकर क्षुब्ध होने से न रुकती थी।" विक्षोभ की इस अवस्था में भी उसका ममत्व कह ही उठता है "देखो बच्चों को बहुत मारना-पीटना मत मारने से बच्चे ज़िद्दी और बेहया हो जाते हैं।" और उधर दुलारी उपदेशों को इस तरह बेमन हो कर सुनती है मानो कोई उसकी बक बक रहा हो। इस प्रकार मूलतः प्यारी के स्वामित्व का अर्थ सेवकत्व है। वह स्वामिनी है किन्तु नाममात्र से ही अन्यथा परिश्रम कर्तव्य-पूर्ति त्याग मर्यादा-पालन सहनशीलता ममता तथा सेवा—ये सभी गुण साधारणतः स्वामिनी के नहीं आदर्श सेविका ही के होते हैं।

प्यारी के वैषम्य का दूसरा पक्ष है निरवलम्ब अथवा अभावात्मक पक्ष जो कि अधिक देर तक स्थिर नहीं रहता। स्वामित्व अथवा सेवकत्व भी तो किसी हेतु पर टिके हुए होते हैं। हमारा जीवन के प्रति लगाव प्रमुखतः इसीलिए होता है कि हम अपने लिए ही नहीं अपितु किसी अन्य जिसे कि हम अपना समझते हैं, के लिए भी जीते हैं। परन्तु प्यारी से तो वह आधार भी अब छिन गया है। उसका एकान्त जीवन जैसे शून्य में टिका हुआ है। अतः उसके जिस पत्नीत्व तथा नारीत्व पर स्वामित्व के आकर्षक पर्दे पड़ गए थे वह पुनः जाग्रत होता है। पहले भी दुलारी तथा मथुरा के आलिंगन को देखकर एवं शिशु-संसार में उन्हें परितृप्त देखकर उसने कभी-कभार करवट बदली थी। आखिर वह भी एक प्राणी है उसके मातृत्व तथा पत्नीत्व में भी हूक उठती है। जिस आधार के कारण उसे सामाजिक प्रतिष्ठा मिली थी वह भी अब विलुप्त हो गया है। अतः वह निराश रहने लगती है। 'कई दिन तक मूर्च्छित-सी पड़ी रहती है न घर से निकलती है न चूल्हा जलाती है और न हाथ-मुँह ही धोती है।" धीरे-धीरे उसका नैराश्य विक्षोभ में परिवर्तन को प्राप्त होता है और विक्षोभ आत्माभिमान में। वह आत्माभिमान का अवलम्ब लेकर पुनः उठती है

और कहती है "वह (मथुरा) समझता है मैं उसके सहारे बैठी हूँ" वहाँ उसको भी दिखाने का दावा करती है। निराशा विक्षोभ तथा आत्माभिमान—यही है उसका अभावात्मक पक्ष।

किन्तु जीवन कभी शून्य नहीं होता। व्यक्ति भावों को अभावों के स्थाना पन्न बनाने में निरन्तर निरत रहता ही है। आत्माभिमान पूर्ण-यौवना के वैधव्य का स्वस्थ आधार कभी नहीं हो सकता। यही कारण है कि प्यारी की मनोवृत्तियों में भी अब विचित्र परिवर्तन आ जाता है। इन वृत्तियों में जो सब से अधिक उभरती है वह है यौन-वृत्ति अथवा अनुराग। भरपूर यौवन में प्यारी विधवा हुई थी। अब उसके एकान्त नीरव जीवन में हलवाहा जोखू पदार्पण करता है। प्यारी उसे पतिरूप में स्वीकार कर लेती है। स्वामिनी रूप में जिस आधार को उसने खोया था उससे भी अधिक भावपूर्ण आधार की प्राप्ति उसे पुनः हो जाती है। प्रेमचन्द ने दिखाया है कि उसका वास्तविक स्वामित्व पत्नीत्व की दिशा में ही है। उसके पास अब पुनः उमंगें हैं आशायें है और स्वास्थ्य है। गायत्री और कैलाशी ने ये दिन कभी लौटकर नहीं देखे।

● ● ●